'मौलाना' गांधी ?

रविशंकर शुक्ल

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

1. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
2. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, क्रास्थवेट रोड, इलाहाबाद
3. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
4. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
5. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
6. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
7. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
8. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मद्रास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके वहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

परिचय

हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा, वर्धा, के प्रधान मंत्री श्री श्रीमन्नारायण के 'मौलाना गांधी'-शीर्षक लेख का, जो अभी हाल में हिंदी-पत्रों में प्रकाशित हुआ है, यह एक उत्तर है। पहले इसे हिंदी-पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजने का विचार था। परंतु समस्या इतनी गंभीर है कि संक्षिप्त उत्तर लिखने की चेष्टा करने पर भी लेख काफ़ी लंबा हो गया। इसलिये इसे पुस्तिका के आकार में प्रकाशित करवाना पड़ रहा है। आशा है, हिंदी-पत्र-पत्रिकाएँ, अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार, लेख-माला के रूप में संपूर्ण लेख अथवा उसके अवतरण प्रकाशित करने की कृपा करेंगी, जिससे तसवीर के दूसरे रुख़ पर भी प्रकाश पड़ सके। हिंदी अपनी ज़िंदगी के एक अत्यंत नाज़ुक दौर से गुज़र रही है, और हिंदी-भाषी पाठकों के सम्मुख समस्या का दूसरा पहलू रखना हिंदी-पत्रों का कर्तव्य है।

जून, १९४६ }

रविशंकर शुक्ल

I

'हिंदुस्तानी' की जोरदार वकालत करते हुए हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा, वर्धा के प्रधान मंत्री श्रीश्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'मौलाना गांधी'-शीर्षक एक लेख हिंदी-पत्रों में छपा है ❀। यह ठीक है कि लेख का शीर्षक हठात् ध्यान खींच लेता है, परंतु वास्तव में 'हिंदुस्तानी' शब्द 'मौलाना' का लगभग वही अर्थ है, जो 'संस्कृत' शब्द 'महात्मा' का। भाषा में धर्म की भित्ति पर भेद नहीं किया जा सकता। कोई कारण नहीं, 'हिंदुस्तानी' में एक हिंदू को 'महात्मा', एक मुसलमान को 'मौलाना', एक हिंदू को 'श्री,' एक मुसलमान को 'जनाब', 'हिंदू-धर्म, मुसलमानी मजहब' आदि क्यों कहा जाय। अँगरेजी में सबको 'मिस्टर' और सबके धर्म को 'रेलीजन' कहते हैं। न-मालूम क्यों हिंदुस्तानीवाले 'हिंदी पत्र-पत्रिका, उर्दू रिसाले', 'संस्कृत शब्द, अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़', 'हिंदू-संस्कृति, मुसलमानी तहज़ीब', 'हिंदी साहित्य, उर्दू अदब', 'हिंदी कविता, उर्दू नज्म', 'हिंदी के विद्वान्, उर्दू के माहिर' आदि-आदि लिखकर (अग्रवालजी का लेख ही देख लीजिए) भाषा का पाकिस्तान क़ायम रखना चाहते हैं? 'हिंदुस्तानी

❀ देखिए एप्रिल, १९४६ का 'विशाल भारत'; १९ मई, १९४६ का 'देश-दूत'।

का माहिर' रेडियो भी इसी चक्कर में आ गया है—उसने भी हुक्म जारी कर दिया है कि यदि एक हिंदू हो, तो कहा जाय 'स्वागत', और यदि एक मुसलमान, अँगरेज़ या किसी भी अन्य धर्म का हो, तो कहा जाय 'इस्तक़बाल'; यदि एक हिंदू मरे, तो कहा जाय 'सुरगबाश हो गए', और यदि कोई और मरे, तो कहा जाय 'इंतक़ाल फ़रमा गए' आदि। परंतु हमारा तो ख़याल है कि अगर पुण्य-सलिला सरस्वती में गंगा और यमुना का जल अलग-अलग दिखाई देता रहा, तो सरस्वती-स्नान के बजाय गंगा-स्नान और यमुना-स्नान का ही माहात्म्य बना रहेगा। कुछ ऐसा ही सोचकर यह तय कर दिया गया है कि जिस प्रकार अँगरेज़ी की संस्कृति और धर्म ईसाइयत है, उसी प्रकार 'हिंदुस्तानी' की संस्कृति और धर्म इस्लाम माना जाय। इसीलिये रेडियो 'गाड' का अनुवाद सदैव 'ख़ुदा', 'रेलीजन' का 'मज़हब', 'फ़्राइडे' का 'जुमा', 'प्रे' का 'दोआ' आदि करता है, और सबको 'आदाब अर्ज़' झुकाता है❀। इसलिये राष्ट्र-भाषा 'हिंदुस्तानी' में महात्मा लोग 'मौलाना' ही कहे जायँगे, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। अतः 'मौलाना गांधी' युग-धर्म के अनुसार ही है। इससे किसी को चौंकने की आवश्यकता नहीं,

---

❀ और कहता है 'हुज़ूर वाइसराय' ('हिज़ एक्सेलेन्सी' का अनुवाद), 'बादशाह सलामत' ('हिज़ मैजेस्टी' का अनुवाद), 'मलका और शहज़ादी एलिज़ाबेथ' आदि।

यह तो केवल आनेवाली बातों की प्रतिच्छाया-मात्र है। श्रीअग्रवाल के मज़ाकिया हिंदी-प्रेमी मित्र अवश्य ही युग-द्रष्टा रहे होंगे।

शीर्षक के बाद हिंदीवालों के लिये हिंदुस्तानी-प्रचार के श्रीअग्रवाल-जैसे एक मुख्य स्तंभ के लेख पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। लेख की मोटी-मोटी बातों पर अलग-अलग विचार करना उचित होगा।

(१) श्रीअग्रवाल लिखते हैं—"उर्दू अख़बार और रिसाले भी गांधीजी को यह कहकर दोष देते रहते हैं कि वे हिंदुस्तानी की ओट में उर्दू का नाश कर हिंदी का ही प्रचार करना चाहते हैं।"

वे ऐसा क्यों न कहें ? उन्हें अपनी ब्लैक मेल की नीति से कब हानि हुई है ? पीरपुर-रिपोर्ट से उनका लाभ-ही-लाभ तो हुआ। फिर, क्या गांधीजी ने अपने मुँह से नहीं कहा है— "यदि मैं सम्मेलन छोड़ता हूँ, तो हिंदी की और सेवा करने के लिये।" सम्मेलन में रहकर सेवा तो प्रत्यक्ष थी, 'और सेवा' ओट से ही हो सकती है। सीधी-सी बात है। 'हिंदुस्तानी' ही तो वह 'ओट' है न, जिससे चाहे हिंदी का नाश कर दो (जैसे रेडियो), चाहे उर्दू का। हाँ, यदि सच्ची बात जानना चाहते हों, तो पं० 'बरजमोहन दतारया' और मौलाना हक़ के दिल से पूछिए—कैसे प्रसन्न हो रहे हैं कि जो काम सल्तनत-ए-मुग़लिया ३०० वर्ष में न कर पाया,

और अंजुमन-ए-तरक़्क़ी-ए-उर्दू आगामी ३०० वर्ष में न कर पाता, उसे गांधीजी दो-चार बरस में ही पूरा करे दे रहे हैं!

(२) "अभी तक वे (गांधीजी) क़ौमी ज़बान को 'हिंदी' नाम से पुकारते रहे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि 'हिंदी' और 'उर्दू' धीरे-धीरे दो अलग-अलग धाराएँ बन गई हैं, तो उन्हें मिलाने के लिये हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा की नींव डाली गई।"

जब गांधीजी ने 'क़ौमी ज़बान' को 'हिंदी' नाम से पुकारना आरंभ किया, उस समय क्या उर्दू और नाम 'उर्दू' का अस्तित्व नहीं था, अथवा क्या उस समय उर्दू और हिंदी एक ही चीज़ थी, और गांधीजी की हिंदी वही थी जो उर्दू? हिंदी और उर्दू की धाराएँ कब से 'धीरे-धीरे' अलग हुई हैं? क्या तुलसी का मानस और ग़ालिब का दीवान आज की हिंदी और उर्दू की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक निकट हैं? फिर, क्या देवनागरी और फ़ारसी-लिपि भी धीरे-धीरे अलग-अलग 'दो धाराएँ' हुई हैं, अथवा क्या जब गांधीजी ने 'क़ौमी ज़बान' को हिंदी नाम से पुकारना आरंभ किया, उस समय सब हिंदियाँ देवनागरी में ही लिखी जाती थीं? दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा तो गांधीजी के हाथ में थी, उसी से उन्होंने आरंभ से ही 'दोनो लिपि'-प्रचार क्यों नहीं करवाया—जनवरी, १९४६ तक क्यों रुके रहे? सन् १९४२ तक सन् १९२५ के हिंदुस्तानीवाले कांग्रेस

प्रस्ताव को भी १७ वर्ष हो चुके थे (इस बीच में गांधीजी सम्मेलन के राष्ट्र-लिपि देवनागरी-प्रचार में बराबर सहयोग देते रहे), तब तक उन्होंने टंडनजी से 'हिंदुस्तानी' का अर्थ क्यों नहीं पूछा? यदि गांधीजी 'हिंदी' को हिंदुस्तानी का ही पर्याय मानते थे, और उन्हें टंडनजी के गणित का हाल नहीं मालूम था, तो कम-से-कम वह देवनागरी को फ़ारसी-लिपि का पर्याय मानने की भूल तो न कर सकते थे?

साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते कि जब मुसलमानों ने गांधीजी को उनके हिंदी और देवनागरी-प्रचार के कारण जली-कटी सुनानी शुरू कीं, तो 'हिंदुस्तानी' बनाने (और 'दोनो लिपि') की सूझी, और समय और समाज ने नैसर्गिक और अनिवार्य कारणों से २५० वर्ष में जो किया था, उसे पलट-कर समय की सुई को २५० वर्ष पहले लौटाने के लिये एक सभा स्थापित की।

(३) "इस कठिन कार्य (हिंदी और उर्दू का साथ-साथ प्रचार) को करने की प्रेरणा गांधीजी को टंडनजी से ही मिली, यह महत्त्व की बात है।"

प्रेरणा चाहे जिससे मिली हो, परंतु टंडनजी और गांधीजी के मुद्दों में अंतर का महत्त्व भी समझ लेना चाहिए। टंडनजी ने 'गणित' पेश किया 'हिंदुस्तानी=हिंदी+उर्दू', गांधीजी ने उसकी पुनर्गणना की है 'हिंदुस्तानी=हिंदी+उर्दू / २'; टंडनजी

ने कहा, हिंदी की लिपि देवनागरी और उर्दू की लिपि फ़ारसी, और राष्ट्र-लिपि होने की पात्रता केवल देवनागरी में, गांधीजी कहते हैं, 'हिंदुस्तानी' की 'दोनो लिपि'; टंडनजी ने कहा, चाहे कोई हिंदी सीखे और चाहे कोई उर्दू, गांधीजी कहते हैं, प्रत्येक हिंदी-उर्दू दोनो सीखे, नहीं तो वह स्वराज्य नहीं चाहता, उसकी राष्ट्रीयता अपूर्ण और राष्ट्र-सेवा अधूरी है। हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा का उद्देश्य हिंदी और उर्दू-शैलियों तथा नागरी और उर्दू-लिपियों का साथ-साथ प्रचार करना न होकर $\frac{\text{हिंदी+उर्दू}}{२}$ वाली 'हिंदुस्तानी' गढ़ना भी है, इसे अग्रवालजी शब्द-जाल द्वारा छिपा नहीं सकते। आख़िर यह 'हिंदुस्तानी अदब' किसलिये और किसमें कौन रच रहा है? 'हिंदुस्तानी तालीमी संघ' और 'नई तालीम' से संबंधित पुस्तकों की 'हिंदुस्तानी' किसने गढ़ी है? बिहार में हिंदुस्तानी-कमेटी किसलिये और किसकी प्रेरणा से (डॉक्टर राजेंद्र-प्रसाद हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा, वर्धा के सभापति हैं) बैठाई गई थी? ऊपर से अग्रवालजी कहते हैं—"हिंदी और उर्दू का इस तरह का आसान और मिला-जुला रूप कोई संस्था या व्यक्ति-विशेष नहीं गढ़ सकता"!

(४) "दूसरी प्रांतीय भाषाओं की तरह हिंदी और उर्दू को भी अपने-अपने क्षेत्र में फलने-फूलने का पूरा हक़ है।"

परंतु क्या ऐसा होने दिया जा रहा है ? बिहार और मध्य-प्रांत के स्कूलों में हिंदी निकालकर 'हिंदुस्तानी' किसने थोपी ? युक्त प्रांत में हिंदी या हिंदी और उर्दू के स्थान में 'हिंदुस्तानी' राजभाषा किसने घोषित की ? युक्तप्रांतीय कांग्रेस-कमेटी की रिपोर्टें, सूचनाएँ आदि 'हिंदुस्तानी' में किसने प्रकाशित कीं ? बिहार और युक्त प्रांत में जनता ने 'हिंदुस्तानी' का जो विरोध किया, उसकी सुनवाई हुई ? यदि यही मान लिया जाय कि विरोध करनेवाली जनता अल्पमत में थी, तो कांग्रेस ने, जो वोटें लेते वक़्त घोषित करती है कि प्रत्येक की भाषा और संस्कृति की रक्षा की जायगी, अल्पमतवाली जनता को 'हिंदुस्तानी' के बजाय हिंदी में, पूर्ववत्, अपने बच्चों को पढ़ाने की छूट क्यों नहीं दी, सब पर 'हिंदुस्तानी' क्यों लादी ? कांग्रेस सरकारों को आख़िर किसका बल था, और किसकी प्रेरणा से उन्होंने यह अनाचार किया ? गांधीजी ने ही जनता की माँग का समर्थन क्यों नहीं किया ? रेडियो को ही अंततोगत्वा किसका बल है ? जब सर सुल्तान अहमद ने अपनी नीति के समर्थन में गांधीजी का नाम लिया, तभी क्या गांधीजी ने कहा कि उनका उद्देश्य हिंदी-उर्दू को बहिष्कृत करना नहीं है ? क्या हिंदुस्तानीवालों ने हमारे हिंदी की माँग के आंदोलन में सहयोग दिया है ? क्या हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा और गांधीजी रेडियो से

यह कहने को तैयार हैं कि अन्य प्रांतीय भाषाओं की भाँति हिंदी और उर्दू में भी ख़बरें हों ? 'हिंदुस्तानी' के परम भक्त डॉ० ताराचंद रेडियो-कमेटी के सदस्य की हैसियत से यह क्यों कह आए कि हिंदी और उर्दू में ख़बरें होने से 'हिंदुस्तानी' का 'एक्सपेरीमेंट' सफल नहीं होगा ? क्या यह 'हिंदुस्तानी' की ख़ातिर हिंदी और उर्दू को हलाल करना नहीं है ? क्या इसी प्रकार हिंदी और उर्दू को अपने क्षेत्र में फलने-फूलने दिया जायगा ? क्या हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा और गांधीजी नई राष्ट्रीय सरकार से ही हिंदी और उर्दू में भी ख़बरें ब्रॉडकास्ट करने की सिफ़ारिश करेंगे ? क्या वह इतना ही स्पष्ट करने की कृपा करेंगे कि हिंदुस्तानी हिंदी और उर्दू को अपने क्षेत्र से निकालने के लिये नहीं बनाई जा रही है, हिंदी-भाषी जनता को हिंदी में और उर्दू-भाषी जनता को उर्दू में ख़बरें सुनने का हक़ है, उन पर उनकी मरज़ी के ख़िलाफ़ हिंदुस्तानी लादी नहीं जानी चाहिए, उन्हें 'हिंदुस्तानी' में ख़बरें सुनने पर मजबूर नहीं करना चाहिए, और अन्य प्रांतीय भाषाओं की भाँति हिंदी और उर्दू का भी हक़ है ? (परंतु हिंदुस्तानी-जगत् के एक और जलते हुए तारे पं० सुंदरलाल तो कहते हैं कि हिंदी और उर्दू-ख़बरों की माँग 'टू नेशन थ्योरी विद ए वेंजियेंस' है !) ❀

❀ यदि, जैसा कि श्रीअग्रवाल कहते हैं, फ़िलहाल हिंदुस्तानी का

क्या हम नई राष्ट्रीय सरकार से यह आशा करें कि वह केंद्र में हिंदी और उर्दू को कम-से-कम वह स्थान देगी, जो अन्य प्रांतीय भाषाओं को? क्या हम यह भी आशा करें कि केंद्र की राष्ट्रीय सरकार अथवा कांग्रेस प्रांतों की सरकारें कोई सरकारी या शिक्षा का काम वर्धा की हिंदुस्तानी में या किसी भी संस्था या व्यक्ति-विशेष की हिंदुस्तानी में (अर्थात् हिंदी और उर्दू छोड़ किसी दूसरी हिंदुस्तानी में) नहीं करेंगी, और तब तक इंतजार करेंगी, जब तक हिंदुस्तानी शैली का स्वाभाविक विकास न हो जाय?

अर्थ हिंदी+उर्दू है, तब तो हिंदी और उर्दू, दोनो में ख़बरें ब्रॉडकास्ट करना और भी आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार श्रीअग्रवाल के कथनानुसार हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा हिंदी और उर्दू का साथ-साथ प्रचार करती है, उसी प्रकार रेडियो हिंदी और उर्दू दोनो में ख़बरें ब्राडकास्ट करे, और दोनो का प्रचार करे। रेडियो या कोई दूसरा सरकारी विभाग जनता पर अपनी हिंदुस्तानी क्यों लादे (यदि लादे भी, तो हिंदी और उर्दू का अधिकार तो फिर भी रहेगा)। गांधीजी, श्रीअग्रवाल और हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा को चाहिए कि वे रेडियो की हिंदुस्तानी गढ़ने में योग न देकर (क्योंकि वह एक संस्था-विशेष द्वारा हिंदुस्तानी गढ़ना ही होगा, जिसके पीछे जनता का कोई सैंकशन नहीं होगा, कोई स्वाभाविकता नहीं होगी) रेडियो से 'हिंदुस्तानी' के बजाय हिंदी और उर्दू में ख़बरें ब्रॉडकास्ट करने के लिये कहें। कम-से-कम वे रेडियो के बुलावे के उत्तर में यही स्पष्ट कर दें कि वे हिंदुस्तानी का अर्थ हिंदी+उर्दू लगाते हैं, जिससे रेडियो को उनका बल न रहे।

(५) "वे (हिंदी-उर्दू वाले) यह नहीं कह सकते कि उनकी भाषा बिगाड़ी जा रही है। अपनी-अपनी भाषा को वे जितना कठिन बनाकर सुरक्षित रखना चाहें, रख सकते हैं, लेकिन हिंदुस्तानी रूपी एक आसान और मिश्रित शैली के विकास में उन्हें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है।"

यह हम नहीं मान सकते। जब मिशनरियों ने मराठी शैली को बिगाड़ा, तो मराठों ने घोर विरोध किया। 'किंग्स इँगलिश' से जब कोई ज़रा-सा भी हटता है, तो अँगरेज़ीवाले भी चिल्ल-पों मचाते हैं। कुछ लोग वर्धा में बैठकर हमारी शैली को जान-बूझकर बिगाड़ें, विकृत शैली का प्रचार करें, यह हम नहीं देख सकते, ख़ास तौर से तब जब वह शैली स्कूलों में हमारे बच्चों पर, रेडियो द्वारा हमारे घरों में आदि-आदि लादी जाती हो, या लादी जानेवाली हो। हमारी भाषा स्वतः बनी है, और स्वतः विकसित होगी, वह चाहे कठिन हो, चाहे आसान। किसी दूसरे को उसमें बोलने की ज़रूरत नहीं। किसी व्यक्ति को मनमाने तौर से उसे तोड़ने-मरोड़ने का हक़ नहीं। यदि किसी को हमारी शैली मनमाने तौर से बिगाड़ने का अधिकार है, तो हमें भी उसका विरोध करने का अधिकार है। हिंदी-पत्र-पत्रिकाएँ यही कार्य कर रही हैं। बिगाड़नेवालों में चाहे स्वयं गांधीजी क्यों न हों, हम चुप नहीं बैठ सकते। हिंदी के स्वरूप की रक्षा करने के लिये,

हिंदी जनता को 'हिंदुस्तानी' से सचेत करने के लिये आंदोलन करना हिंदी-प्रेस का कर्तव्य है। यदि किसी को बिगाड़ी हुई हिंदी को राष्ट्र-भाषा मानने का अधिकार है, तो हमें भी अधिकार है कि हम उसे राष्ट्र-भाषा न मानें, उससे कोई वास्ता न रक्खें, और उसका विरोध करें *। भाषा किसी भी व्यक्ति से बड़ी है। हिंदी-शैली बिगाड़ने का अधिकार किसी को नहीं दिया जा सकता—गांधीजी को भी नहीं, टंडनजी को भी नहीं। हमने गांधीजी को राजनीतिक

---

*यदि कोई किंग्स इंगलिश छोड़कर (एक संसार-भाषा गढ़ने के निमित्त) संसार की पाँच-छ तरह की अँगरेज़ियों जैसे अँगरेज़ों की अँगरेज़ी, अमेरिकन अँगरेज़ी, बाबू अँगरेज़ी, पिजिन (Pidgin) अँगरेज़ी आदि को मिलाकर, तुर्की, जापानी और चीनी का छौंक देकर और अँगरेज़ी के आधे ग्रीक और लैटिन शब्द निकालकर उनके स्थान में संस्कृत और अरबी-शब्द धरकर एक 'मिली-जुली आसान' अँगरेज़ी 'शैली' को गढ़े (और उसे पाँच-छ लिपियों में लिखे), तो कम-से-कम अँगरेज़ तो उसे संसार-भाषा न मानेंगे, उसे इँगलैंड में किसी रूप में न घुसने देंगे, अपने बच्चों को उसे किसी भी रूप या हैसियत में पढ़ाने को तैयार न होंगे, और बी० बी० सी० से उसमें ख़बरें या अन्य कोई प्रोग्राम कदापि ब्रॉडकास्ट न होने देंगे। वे उसका भरपूर विरोध भी करेंगे, क्योंकि उसके प्रचार से अँगरेज़ी की स्टैंडर्ड शैली तो फिर भी विकृत होगी ही। आज भी जब कोई (जैसे भारत के अँगरेज़ी पत्र) किंग्स इँगलिश से ज़रा हटता है, तो हाय - तोबा मचाई जाती है। बेचारी हिंदी की, जिसने अभी जवानी में पैर रक्खा है, बात ही क्या है।

और सामाजिक नेता के रूप में माना है, साहित्यिक नेता के रूप में नहीं। उन्हें चाहिए, वह किसी की भाषा या शैली के स्वरूप के विषय में हस्तक्षेप न करें। यदि वह हस्तक्षेप करते हैं, और अपने प्रभाव से अनुचित लाभ उठाते हैं, तो हम, उनके प्रति प्रेम और श्रद्धा होते हुए भी उनका विरोध करने के लिये विवश हो जाते हैं। वह ख़ुशी से एक ढली हुई भाषा या शैली उर्दू का, जिसका स्वरूप निश्चित है, जिसके सिद्धांत निश्चित हैं, जिसकी अपनी अलग लिपि है, अलग साहित्य है, अर्थात् जो सब मानों में एक स्वीकृत भाषा है, प्रचार करें, परंतु यदि हिंदुस्तानी गढ़कर हिंदी-शैली का सत्यानास न करें, तो अच्छा हो। यदि उन्हें हमारी हिंदी-शैली पसंद नहीं, तो हम उनसे प्रार्थना करेंगे कि वह हमारी हिंदी को बख़्श दें। अपने राजनीतिक प्रयोग करने के लिये यदि वह अपनी गुजराती, जिसे वह ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं, चुन लें, और अपनी गुजराती शैली, मुसलमानों की गुजराती शैली और पारसियों की गुजराती शैली मिलाकर एक 'आसान और मिश्रित' गुजराती शैली का विकास करें, और उसे दो-तीन लिपियों में (जिनमें से एक पारसियों की गुजराती की लिपि रोमन हो) लिखें, तो ज्यादा अच्छा हो।

(६) "राष्ट्र-शैली के निर्माण का काम उन्हें (हिंदी-उर्दू-वालों को) राष्ट्रीय नेताओं के हाथ में सौंप देना चाहिए।"

राष्ट्रीय नेताओं में अकेले गांधीजी नहीं आते। श्रीयुत

मुंशी, टंडनजी, संपूर्णानंदजी, पं० बालकृष्ण शर्मा, आचार्य नरेंद्रदेव आदि-आदि भी राष्ट्रीय नेता हैं, जिन्होंने कांग्रेस और देश की सेवा में अपने बाल सुखाए हैं। उन्हें भी बोलने का अधिकार है। क्या वे हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के सिद्धांतों से सहमत हैं? फिर, भाषा का प्रश्न राजनीतिक प्रश्न नहीं, 'राष्ट्रीय नेताओं' की कृपा से बना भले ही दिया गया हो। हिंदी को राजनीति के दाँव-पेंच का शिकार नहीं बनने दिया जा सकता। राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर भाषा-विशेषज्ञों को भी बोलने का पूरा-पूरा अधिकार है। जो 'राष्ट्रीय नेता' हिंदुस्तानी का ढोल पीटते हैं, उनमें से कितने भाषा-विशेषज्ञ हैं, अथवा साहित्यिक ही हैं? और, जो 'राष्ट्रीय नेता' गाल बजाते फिरते हैं कि 'हिंदुस्तानी' ऐसी होनी चाहिए, वैसी होनी चाहिए, ऐसी 'हिंदुस्तानी' बोली जाती है, वैसी 'हिंदुस्तानी' बोली जाती है, उनमें से कितनों की मातृभाषा 'हिंदुस्तानी' है, अथवा कितनों को 'हिंदुस्तानी'-प्रदेश में 'जन्म' लेने और रहने का सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है? क्या 'राष्ट्रीय नेताओं' ने अपने 'एक भाषा, दो लिपि' वाले सिद्धांत को भाषा-विशेषज्ञों से जँचवाने का कष्ट किया है कि यह संभव भी है या नहीं? (डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी को ही सुन लें।) विज्ञान का मामला होता है, तो राष्ट्रीय नेता वैज्ञानिकों से पूछते हैं, अर्थ-शास्त्र की कोई समस्या होती है, तो अर्थ-शास्त्रियों की कमेटी बैठाते हैं, फिर राष्ट्र-भाषा

के मामले में ही बिना भाषा-शास्त्रियों से पूछे वे हिंदुस्तानी का राग क्यों अलाप रहे हैं ? इस समस्या को सुलझाने के लिये वे भाषा-शास्त्रियों की कमेटी क्यों नहीं बैठाते ? यह याद रखना चाहिए कि राष्ट्र-हित के लिये केवल राष्ट्र-हित की भावना यथेष्ट नहीं। फिर, 'राष्ट्रीय नेताओं' में केवल राजनीतिक नेता ही नहीं, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक नेता भी शामिल हैं। वर्धा की हिंदुस्तानी के विषय में उनकी क्या राय है ? इस समय राजनीति का स्टीमरोलर और सबको दबाए हुए है, यह बात दूसरी है, परंतु राजनीति का घटाटोप हटते ही हिंदुस्तानी का जनाज़ा निकल जायगा—यह सोचकर यदि श्रीअग्रवाल के 'राष्ट्रीय नेता' यदि राष्ट्र की शक्ति का अपव्यय न करें, तो अच्छा हो। राष्ट्रीय सरकार भी एक भाषा या शैली गढ़कर नहीं लाद सकती।

(७) "राष्ट्र-भाषा का रंग-रूप कैसा हो, यह सिर्फ़ हिंदी-भाषी या उर्दू-भाषी जनता तय नहीं कर सकती। हाँ, वह अपनी राय अवश्य दे सकती है। हिंदुस्तान के दूसरे सूबों को भी अपनी सुविधा-असुविधा की बात राष्ट्र-नायकों के सामने पेश करने का पूरा अधिकार है।"

यही बात तो हम हिंदीवाले कहते हैं, परंतु दूसरे सूबों की बात गांधीजी ने पूछी कब है ? गत वर्ष फ़रवरी की हिंदुस्तानी कॉन्फ्रेंस में हिंदी-उर्दू के सिवा और किस-किस प्रांतीय भाषा के विद्वान् बुलाए गए थे ? वर्धा के हिंदुस्तानी

लिटरेचर बोर्ड में हिंदी-उर्दू के सिवा और किस-किस प्रांतीय भाषा के विद्वान् हैं, और 'हिंदुस्तानी अदब' रचनेवालों में किस-किसके? क्या हिंदुस्तान के दूसरे सूबों ने दोनो लिपि और हिंदुस्तानी पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी है? क्या यह चिल्ला-चिल्लाकर नहीं कहा जा रहा है कि हिंदुस्तानी हिंदी-उर्दू की एक मिली-जुली शैली होगी? चूँकि उर्दू हिंदी से भिन्न भाषा नहीं, इसका अर्थ यह हुआ कि हिंदुस्तानी हिंदी में उर्दू-शब्द मिलाकर बनाई जायगी। इसी प्रकार हिंदी में 'दूसरे सूबों' की भाषाओं के शब्द मिलाने का प्रबंध क्यों नहीं किया जाता? हिंदुस्तानी केवल हिंदी-उर्दू की मिली-जुली शैली ही क्यों❀? रही दूसरे सूबों की सुविधा-असुविधा की बात, सो हम श्रीअग्रवालजी से ही प्रार्थना करेंगे कि वह दूसरे सूबों की जनता से पूछकर बताएँ कि उसे 'अदब', 'तालीम', 'क़ौमी ज़बान', 'लफ़्ज़', 'तरजुमा', 'ख़तो किताबत,' 'फ़र्ज़', 'तहज़ीब', 'वाक़िफ़' (श्रीअग्रवाल के लेख

❀ यदि हिंदुस्तानी के समर्थकों का यह कहना है कि जब दूसरे सूबेवाले हिंदुस्तानी = हिंदी + उर्दू सीख लेंगे, और उसमें अंतर प्रांतीय व्यवहार करेंगे, तो हिंदुस्तानी में अन्य प्रांतीय भाषाओं के शब्द तो अपने आप आ जायँगे, तो ऐसा भी तो है कि जब उर्दूवाले हिंदी सीख लेंगे, और हिंदी में अंतर प्रांतीय व्यवहार करेंगे, तो हिंदी में उर्दू के भी शब्द अपने आप आ जायँगे। फिर ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग हिंदी-उर्दू दोनो क्यों सीखें? सबको केवल हिंदी क्यों न सिखाई जाय?

के कुछ 'हिंदुस्तानी' शब्द) में अधिक सुविधा है कि 'साहित्य', 'शिक्षा', 'राष्ट्र-भाषा', 'शब्द', 'अनुवाद', 'पत्र-व्यवहार', 'कर्तव्य', 'सभ्यता', 'परिचित' में (और 'दोनो लिपि' में अधिक सुविधा है कि केवल देवनागरी में)। इतना ही नहीं, हम श्रीअग्रवाल को दावत देते हैं कि वह हिंदी के किसी भी शब्द को उसके उर्दू-पर्याय की अपेक्षा हिंदुस्तान के दूसरे सूबों की जनता के लिये अधिक असुविधा-जनक सिद्ध करें। यदि वह अपनी हिंदू-मुस्लिम पैक्ट की भाषा हिंदुस्तानी को 'आसान', 'आमफ़हम' आदि विशेषणों से विभूषित न करें, तो सत्य की अधिक रक्षा हो। (अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के अधिवेशनों में 'दूसरे सूबों' के प्रतिनिधियों ने ही कहा है कि जब पं० बालकृष्ण शर्मा बोलते हैं, तब तो समझ में आता है, परंतु जब पं० नेहरू बोलते हैं, तो ठीक समझ में नहीं आता। एक 'दूसरे सूबे'—मैसूर—के विद्यार्थियों ने ही शिकायत की है कि हिंदी में इतने अरबी-फ़ारसी के दुरूह शब्द क्यों आते हैं।) भाषा शब्द चुनने से नहीं बना करती। भारत की राष्ट्र-भाषा के लिये एक परंपरागत, ढली हुई भाषा चाहिए, जिसमें राष्ट्र के अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के लिये अधिक-से-अधिक सुविधा हो। वह हिंदी है या गर्भ-स्थित 'हिंदुस्तानी' ?

(८) "उनकी (गांधीजी की) तीव्र कामना है कि हमारा देश अँगरेज़ी-भाषा की ग़ुलामी को तुरंत दूर करे, और स्वदेशी

भाषाओं का व्यवहार शुरू करने में पूरी ताक़त लगावे।"

बिलकुल ठीक, परंतु क्या यह काम भारतीय बालकों पर अपनी मातृभाषा और मातृलिपि के अतिरिक्त हिंदी-उर्दू दोनो और 'दोनो लिपि' लादने से जल्दी पूरा होगा, अथवा क्या यह काम अँगरेज़ी की जगह में हिंदी के बजाय किसी "न संस्कृत, न अरबी-फ़ारसी'वाली अनगढ़, अनिश्चित, साहित्य-रहित कृत्रिम हिंदुस्तानी को प्रतिष्ठित करने से जल्दी पूरा होगा? (मद्रास में श्रीराजाजी के हिंदी अनिवार्य करने पर मद्रासियों ने कैसा घोर सत्याग्रह किया था! हिंदी-उर्दू दोनो और दोनो लिपि से न-मालूम क्या होगा)।

एक बात और। उर्दू कोई हिंदी से भिन्न 'स्वदेशी भाषा' नहीं। उर्दू केवल 'अरबी-फ़ारसी लफ़्ज़ों' से भरी हिंदी का नाम है, इसलिये (गांधीजी का) उर्दू-प्रचार हिंदी से भिन्न किसी स्वदेशी भाषा का प्रचार नहीं, केवल विदेशी शब्दों का प्रचार है। 'हिंदी-उर्दू की खाई पाटना'-जैसे सुंदर और मधुर नारों का और कुछ नहीं, केवल यह अर्थ है कि हिंदी से आधे संस्कृत शब्द निकालकर उनके स्थान में अरबी-फ़ारसी शब्द भर दिए जायँ। आगे श्रीअग्रवाल लिखते हैं—"अगर कोई उनसे (गांधीजी से) बातें करने जाय और हिंदुस्तानी बोलते-बोलते कुछ अँगरेज़ी शब्दों का इस्तेमाल करे, तो वे मुस्कराकर उसका मज़ाक़ उड़ाते हैं।" क्या ख़ूब, विदेशी

अँगरेज़ी शब्द (जिनके बिना कांग्रेस का काम चल ही नहीं सकता, और जिन्हें संपूर्ण शिक्षित भारत और आधी दुनिया बोलती और समझती है) इतने बुरे और त्याज्य हो गए और विदेशी अरबी-फ़ारसी-शब्द इतने ज़रूरी और ग्राह्य हो गए कि उनके प्रचार के बिना काम ही नहीं चल सकता, उन्हें घुसेड़े बिना 'आसान, आमफ़हम राष्ट्र-भाषा' बन ही नहीं सकती, राष्ट्र-भाषा 'आसान' हो ही नहीं सकती। यदि कोई वर्धा की हिंदुस्तानी का मज़ाक़ उड़ाए, तो क्या बुरा ? जहाँ तक बोलचाल का संबंध है, हम उर्दू को इँगलिस्तानी की भाँति हिंदी की एक विशिष्ट शैली मानते हैं, जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है। राष्ट्र-भाषा के प्रकरण में जिस प्रकार इँगलिस्तानी त्याज्य है, उसी प्रकार उर्दू भी त्याज्य है। हिंदी ने आवश्यक और घुले-मिले अँगरेज़ी शब्द भी ले लिए हैं, और घुले-मिले अरबी-फ़ारसी शब्द भी। जिस प्रकार प्रचलित शब्द 'साहित्य' रहते 'लिटरेचर' कहने पर गांधीजी मज़ाक उड़ाएँगे, उसी प्रकार 'साहित्य' रहते 'अदब' कहने पर हम हिंदुस्तानीवालों का मज़ाक उड़ाते हैं। बोलचाल के बाद रही साहित्य की बात, सो ऐसी बात नहीं कि इँगलिस्तानी का साहित्य ही न हो (देखिए डॉ० रामकुमार वर्मा की 'रेशमी टाई')। वह तीनो शैलियों और तीनो लिपियों (फ़ारसी, देवनागरी और रोमन) में पाया जाता है, और यदि हिंदुस्तानी की यही दोरथी माया रही, तो वह द्रुतगति से

उन्नति करेगा। गांधीजी को मालूम हो या न हो, उनके और हिंदुस्तानी के प्रयागवासी भक्त-द्वय पं० सुंदरलाल और डॉ० ताराचंद ने 'संस्कृत-शब्द' 'संपादक' की हिंदुस्तानी की है 'अडीटर' और मिलकर 'नया हिंद' का एक 'अडीटर-बोर्ड' बनाया है, जिसके स्वयं दो माननीय 'मेंबर' हैं। पता नहीं, गांधीजी उनका मज़ाक़ उड़ाएँगे या नहीं। जब रेडियो ने 'हिंदुस्तानी' पर बोलने के लिये हिंदुस्तानी के छ माहिरों को बुलाया, तब उनमें से एक डॉ० ताराचंद यह सलाह दे आए कि विशेष शब्द हिंदी या उर्दू से न लेकर अँगरेज़ी से ले लिए जायँ; फलतः रेडियो की हिंदुस्तानी में दो-तिहाई विशेषशब्द अरबी-फ़ारसी हैं और एकतिहाई अँगरेज़ी। बस, इसी प्रकार हिंदुस्तानीवालों के आशीर्वाद से इँगलिस्तानी का साहित्य ख़ूब उन्नति कर रहा है (और रोमन-लिपि का प्रचार भी)। यदि पुराने साहित्य को लें, तो भारत में केवल उर्दू का और हिंदी का ही साहित्य नहीं है। कम-से-कम १४ भारतीय भाषाओं का उर्दू से कहीं पुराना और कहीं अधिक प्रचुर साहित्य है। यदि एक शब्द उर्दू-साहित्य में आया है और उसका पर्याय १४ साहित्यों में, तो राष्ट्रभाषा में किस शब्द को लिया जाय ? वैसे भी जिस प्रकार कांग्रेस कहती है कि दो असम दलों में पैरिटी नहीं हो सकती, उसी प्रकार हिंदी और उर्दू को अर्थात् संस्कृत और अरबी-फ़ारसी को (क्या अरब और फ़ारस भी 'हिंदुस्तानी' को राष्ट्र-भाषा

बनाएँगे ?) समकक्ष नहीं रक्खा जा सकता। एक दल प्रचलित शब्दों को मतरूक करके ज़बरदस्ती विदेशी शब्द भरता जाय। (इसी प्रकार उर्दू बनाई गई; क्रम अब भी जारी है) और नए शब्द घर के खज़ाने को छोड़कर बाहर से ढूँढ़-ढूँढ़कर लाता जाय और उसका दंड भोगें हम सब! गांधीजी की यही न्याय-व्यवस्था है? यहाँ गांधीजी अरबी-फ़ारसी शब्दों को भरना न्याय-संगत और तर्क-संगत समझते हैं, और मुस्लिम ईरान फ़ारसी में से अरबी शब्दों को और मुस्लिम तुर्की तुर्की में से अरबी और फ़ारसी शब्दों को निकाल रहा है!

उर्दू-प्रचार की भाँति फ़ारसी-लिपि का प्रचार भी देवनागरी से भिन्न किसी 'स्वदेशी' लिपि का प्रचार नहीं, एक विदेशी लिपि का प्रचार है। फिर गांधीजी न-मालूम किस तर्क के अनुसार रोमन-लिपि का विरोध करते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से रोमन-लिपि फ़ारसी-लिपि से तो फिर कहीं अच्छी है। ऐसी बात नहीं कि आज भारत में रोमन-लिपि में हिंदुस्तानी न लिखी जा रही हो। रोमन-लिपि में भी बहुत लिखाई हो रही है—सेना में, रेडियो में, संथालों, आदिवासियों आदि के स्कूलों में, आदि-आदि (लखनऊ-विश्वविद्यालय ने अपनी नई योजना में 'हिंदुस्तानी' के लिये रोमन-लिपि को भी स्वीकृत कर लिया है! 'दोनो लिपि' की चक्की में पिसकर क्या करता बेचारा! गांधीजी

की क्या राय है? हमारी राय में तो डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की भविष्यवाणी सत्य हो रही है—"दोनो लिपि के प्रस्ताव से केवल रोमन-लिपि का जयजयकार होनेवाला है※।") अगर रोमन-लिपि की यह सब लिखाई ज़बरदस्ती है, तो देवनागरी होते हुए मुसलमानों का फ़ारसी-लिपि में 'हिंदी' लिखना भी ज़बरदस्ती था और है।

हम राष्ट्र-लिपि के प्रकरण में न रोमन-लिपि को महत्त्व दे सकते हैं, न फ़ारसी-लिपि को।

(६) "आल इंडिया रेडियो की भाषा को हम हिंदुस्तानी नहीं कह सकते; वह तो उर्दू ही है। इसी तरह जो भाषा

※ इसमें इतना और जोड़ देना चाहिए—हिंदुस्तानीवाद और हिंदुस्तानी की परिभाषा 'न हिंदी, न उर्दू' से केवल इँगलिस्तानी का जयजयकार होनेवाला है। युक्त प्रांत के जिन स्कूलों में शिक्षा का माध्यम 'हिंदुस्तानी' है, उनमें पुस्तकें तो हिंदी और उर्दू में छपती हैं, परंतु कक्षा में गुरुजी बोलते सब विशेष शब्द अँगरेज़ी के ही हैं। ऐसा न करें, तो काम कैसे चले? छात्र भी वैसा ही करते हैं। लखनऊ-विश्वविद्यालय में भी, जिसमें उसकी हिंदुस्तानी माध्यमवाली योजना के अनुसार क्लास हिंदी और उर्दू में अलग-अलग न लगकर 'हिंदुस्तानी' में लगेंगे, ऐसा ही होगा। न हिंदी के शब्द चलेंगे, न उर्दू के, बस अँगरेज़ी के चलेंगे। 'हिंदुस्तानी' मंत्र थोड़े ही है, जिसे पढ़ते ही दो जीवित भाषाओं हिंदी और उर्दू का अंतर छू-मंतर हो जायगा। लिपि रोमन और भाषा इँगलिस्तानी—यही हिंदुस्तानीवाद का मीठा फल है, जो गांधीजी के लगाए हुए पेड़ से टपकेगा।

आजकल हिंदी-पत्र-पत्रिकाओं में इस्तेमाल की जाती है, वह भी हिंदुस्तानी नहीं मानी जा सकती।"

ठीक है, हज़ारों-लाखों आदमी जैसी हिंदुस्तानी लिखें और सैकड़ों सालों से लिखते आ रहे हैं, वह 'हिंदुस्तानी' नहीं, वर्धा के डेढ़ दर्जन व्यक्ति अब जैसी हिंदुस्तानी लिखें वह 'हिंदुस्तानी' है। हिंदुस्तानी घर की खेती, घरजानी मन-मानी हो गई कि जिसे गांधीजी और उनकी साहित्य-समिति हिंदुस्तानी क़रार दे, वही हिंदुस्तानी! ऊपर से कहना यह है कि "हिंदुस्तानी जनता की भाषा है" (जनता अब तक बैठी नहीं रही; जनता ने हिंदुस्तानी के दो रूप, हिंदी और उर्दू, निश्चित कर लिए हैं, उन्हें हिंदुस्तानी क्यों नहीं मानते? डेढ़ दर्जन व्यक्ति अपनी नई हिंदुस्तानी क्यों गढ़ते हैं, उसी को 'हिंदुस्तानी' की उपाधि क्यों देना चाहते हैं?); और यह कि "हिंदुस्तानी का अर्थ फ़िलहाल हिंदी+उर्दू समझना चाहिए"!

(१०) "इन दिनों जान-बूझकर हिंदी-भाषा में से उर्दू के आमफ़हम शब्द निकाल डालने की वृत्ति साफ़ नज़र आती है।"

बात बिलकुल उलटी है। इन दिनों हिंदुस्तानी के आग्रह से और हिंदुस्तानीवालों के प्रताप से हिंदी में जान-बूझकर अप्रचलित उर्दू-शब्दों को घुसेड़ने की प्रवृत्ति नज़र आती है। स्वयं अग्रवालजी का लेख इसका उदाहरण है। हिंदुस्तानी हिंदी को क्रमशः विकृत कर रही है। दस साल

पहले की और आज की हिंदी का मिलान करके देख लें। हिंदी और हिंदी-पत्र ही हिंदुस्तानी और हिंदुस्तानीवालों के प्रचार का साधन बन रहे हैं, हिंदी-पत्र ही 'हिंदुस्तानी' के लेख, सूचनाएँ आदि वैसे-के-वैसे छापकर हिंदी में उर्दू शब्दों के घुसने के लिये रास्ता बना रहे हैं। गांधीजी या अग्रवालजी विकृत, ख़राब, परंपराच्युत अँगरेजी लिखने का साहस न करेंगे, और यदि लिखेंगे, तो अँगरेज़ी पत्र उसे नहीं छापेंगे, परंतु हिंदी-पत्र निस्संकोच विकृत, ख़राब हिंदी अर्थात् हिंदुस्तानी छाप देते हैं। दूर जाने की ज़रूरत नहीं, अग्रवालजी का लेख उर्दू-पत्र ही नहीं छापेंगे। पता नहीं, अग्रवालजी अपने लेख की भाषा को हिंदी कहेंगे अथवा 'हिंदुस्तानी'। यदि हिंदी है, तो इस लेख में जितने उर्दू शब्द आए हैं, उतने हिंदी शब्द रखकर, और यदि हिंदुस्तानी है, तो इसी लेख को उर्दू-लिपि में लिखकर (यदि लिखना संभव हो तो; बिसमिल्लाह में ही 'श्रीमन्नारायण' का 'शरी-मननारायन' हो जायगा!) उर्दू पत्रों के पास प्रकाशनार्थ भेज-कर देख लें। यह सोचने की बात है कि आज हिंदी-वाले ही हिंदुस्तानीवाले बन बैठे हैं, कल तक जो हिंदी-प्रचारक थे, वही आज हिंदुस्तानी-प्रचारक हैं, हिंदी ने ही अपने पूत हिंदुस्तानी को दिए हैं, स्वयं अग्रवाल-जी हिंदी की गोद में ही तुतलाए हैं, आज हिंदी के लाल ही अपनी माँ को विदेशी गहने और विदेशी

पोशाक पहनाने में तन-मन-धन से जुटे हुए हैं, आज हिंदी माँ अपने पूतों के ही हाथों लज्जित और अपमानित हो रही है। एक हिंदी-पत्र 'विश्ववाणी' ने ही रातोंरात कला-बाज़ी खाकर डंके की चोट हिंदी की हिंदुस्तानी की है। अग्रवालजी बताने की कृपा करें कि हिंदुस्तानी-आंदोलन के फल-स्वरूप उर्दू में हिंदी के कितने शब्द घुसे हैं, उर्दू के कितने लाड़ले हिंदुस्तानी लिख रहे हैं (और यदि 'हिंदुस्तानी' नाम से लिख रहे हैं, तो उसमें और विशुद्ध उर्दू में क्या अंतर है), उर्दू के कितने प्रचारक हिंदुस्तानी के दल में आ मिले हैं और कितनों ने अंजुमन तरक़्क़ी उर्दू से त्याग-पत्र देकर हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा की श्री-वृद्धि की है?

(११) "जब तक हमारी सभा का हिंदुस्तानी अदब (साहित्य) प्रकाशित न हो जाय, तब तक हिंदी या उर्दू के हिमायती हमारे काम के बारे में ग़ैरजिम्मेवारी से टीका-टिप्पणी न करें, तो बड़ी कृपा हो।"

हिंदीवालों को वर्धा की हिंदुस्तानी के बहुतेरे नमूने देखने को और सुनने को मिल चुके हैं। हिंदुस्तानी तालीमी संघ, नई तालीम और दक्षिण भारत-हिंदी-प्रचार-सभा के 'हिंदुस्तानी' दिग्गजों की पुस्तकें देखने का सौभाग्य भी हमें प्राप्त हो चुका है। 'हरिजन-सेवक' की भाषा तो शुद्ध 'हिंदुस्तानी' के जीते-जागते नमूने के बतौर सामने है ही। वर्धा की हिंदुस्तानी है— उर्दू का वाक्य, जिसमें यत्र-तत्र उर्दू-लिपि में लिखे जा सकने

योग्य दो-तीन हिंदी-शब्द धर दिए जायँ और आगे चलकर उन दो तीन हिंदी शब्दों के उर्दू-पर्याय भी इस्तेमाल कर दिए जायँ या हिंदी-शब्दों के आगे ही कोष्ठकों में उर्दू-पर्याय लिख दिए जायँ, जिससे सब कोई उनके भी उर्दू-पर्यायों से परिचित हो जायँ।

हिंदुस्तानीवालों ने (जिनमें हिंदुस्तानी प्रचार-सभा भी शामिल है) आज तक अपनी हिंदुस्तानी के स्वरूप-विषयक नीति या सिद्धांत नहीं बतलाए। कारण स्पष्ट हैं। कोई सिद्धांत हो ही नहीं सकते। यदि हों, तो हिंदुस्तानी हिंदी से भिन्न न रहे, हिंदुस्तानी में 'अदब' न घुस सके। अतः प्रत्येक उर्दू-शब्द 'हिंदुस्तानी' का शब्द है (और गांधीजी के शब्दों में 'उत्तरी भारत में घर कर चुका है') और इस नाते वर्धा की हिंदुस्तानी में स्थान पा सकता है। किसी भी उर्दू-शब्द के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि यह हिंदुस्तानी में नहीं लिया जा सकता। (अग्रवालजी ने रेडियो की हिंदुस्तानी को उर्दू बतलाया तो है, परंतु वह रेडियो की हिंदुस्तानी के किस शब्द के लिये किस तर्क के अनुसार कह सकते हैं कि यह 'हिंदुस्तानी' शब्द नहीं है, यह हिंदुस्तानी में नहीं लिया जा सकता अथवा उनके 'हिंदुस्तानी अदब' में नहीं लिया जा सकता ?)। चूँकि हिंदुस्तानी उर्दूवालों को, मुसलमानों को ख़ुश करने के लिये और उन्हें नाथने के लिये बनाई जा रही है, इसलिये उनकी ख़ुशी और आराम का पूरा ध्यान

रखना ही पड़ेगा, ताकि वे उसे स्वीकार कर लें। यदि उन्होंने उसे स्वीकार न किया, तो टायँ-टायँ फिस न हो जायगी, हिंदी-वालों को मुँह कैसे दिखलाया जा सकेगा? जब काम शुरू कर दिया, तो अधूरा कैसे छोड़ा जा सकता है? मुसलमानों के हिंदी-विरोध के कारण ही तो हिंदुस्तानी की धूम मची है, यदि उन्होंने वर्धा की हिंदुस्तानी को भी स्वीकार न किया, तो क्या लाभ हुआ? अतः हिंदुस्तानी के कारीगरों को हिंदुस्तानी के लाजीकल कानक्लयूज़न तक जाना ही पड़ेगा। चूँकि उर्दू उर्दू ही रहना चाहती है, हिंदुस्तानी को उर्दू बना देने के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं। बस, समझ लीजिए, वर्धा की हिंदुस्तानी कैसी होगी अथवा उसे कैसा होना पड़ेगा।

अग्रवालजी कहते हैं, "गांधीजी का दिल साफ़ है।" हम यह मानते हैं, परंतु किसी कार्य का परिणाम करनेवाले की दिली भावना पर ही निर्भर नहीं होता। लोगों को गांधीजी के दिल का हाल क्या मालूम, उन्हें तो केवल हिंदुस्तानी का उद्देश्य मालूम है। व्यवहार में गांधीजी की हिंदुस्तानी को कोई आदर्श नहीं मानेगा और न गांधीजी हिंदुस्तानी का कोष बना सकते हैं और न केवल कोष देखकर भाषा लिखना संभव है। वर्धा की हिंदुस्तानी साहित्य-समिति या उसका 'हिंदुस्तानी अदब' भी कुछ नहीं कर सकता। जब हिंदुस्तानी का फ़्लडगेट खुल गया, तो गांधीजी या श्रीअग्रवाल लकीर नहीं खींच सकते कि बस, यहाँ तक अरबी-फ़ारसी, इसके

आगे नहीं; यह अरबी-फ़ारसी-शब्द हिंदुस्तानी है, यह नहीं। हिंदुस्तानी का तीर छूटने के बाद गांधीजी या श्रीअग्रवाल नहीं, परिस्थितियाँ हिंदुस्तानी के स्वरूप का निर्णय करेंगी। वे परिस्थितियाँ ये हैं कि उर्दू पर अथवा उर्दूवालों पर गांधीजी या कांग्रेस का कोई बस नहीं, उर्दू अपने क्षेत्र में सुरक्षित है, उर्दू उर्दू ही रहना चाहती है, अब यदि आप एक कामन हिंदुस्तानी बनाना चाहते हैं, तो उसे उर्दू बनाने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं। बिहार की हिंदुस्तानी का उदाहरण सामने है। आप जान-बूझकर हिंदुस्तानी को उर्दू न भी बनाएँ, तो भी परिस्थितियाँ उसे उर्दू बनाकर छोड़ेंगी, क्योंकि उर्दू में कोई हिंदी-शब्द घुसने नहीं दिया जायगा, हिंदुस्तानी में किसी उर्दू-शब्द पर रोक-टोक हो नहीं सकती, इसलिये कामन हिंदुस्तानी में उर्दू-शब्द लेने की आम प्रवृत्ति अपने आप होगी। 'हिंदुस्तानी' वह हलका विष है, जो हिंदी को, और केवल हिंदी को, समाप्त करके छोड़ेगा। आज की परिस्थिति में हिंदुस्तानी का घुन लगने पर हिंदी जीवित नहीं रह सकती। अतः यदि हिंदुस्तानी के हिमायती हिंदुस्तानी गढ़ना-जैसा ग़ैरज़िम्मेदारी का काम ही न करें, तो बड़ी कृपा हो। 'हिंदुस्तानी अदब' कैसा होगा, यह उसके नाम से ही भली भाँति प्रकट है।

(१२) "अगर देश के ज़्यादा-से-ज़्यादा लोग हिंदी और उर्दू दोनो सीख लें, तो हिंदी और उर्दू के बीच की

खाई काफ़ी हद तक भर जायगी और आसान मिली-जुली हिंदुस्तानी शैली का विकास हो सकेगा।"

पहला प्रश्न तो यह है कि हिंदुस्तानी शैली के विकास का भगीरथ-प्रयत्न करने की आवश्यकता ही क्या है, जिस लिये इस निरक्षर देश के ज्यादा-से-ज्यादा लोगों पर हिंदी और उर्दू दोनो लादी जायँ? हिंदुस्तानी शैली का काम क्या हिंदी या उर्दू शैली नहीं कर सकती? जो खाई सैकड़ों वर्षों में खुदी है और जिसके खुदने के मूल कारण हैं वह आज दस-पाँच वर्ष में कैसे भर सकती है और भरी ही क्यों जाय? अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति हिंदी और उर्दू को भी बिना छेड़-छाड़ किए क्यों न रहने दिया जाय? हिंदी-उर्दू के अतिरिक्त देश में और भी विकसित भाषाएँ हैं, जिनके बीच की खाई हिंदी और उर्दू के बीच की खाई से भी अधिक गहरी है—उसे पाटने के लिये देश के ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को देश की अधिक-से-अधिक भाषाएँ सिखाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया जाता? यदि दो ही भाषाएँ और लिपियाँ सिखानी हैं, तो एक उत्तर की भाषा और लिपि और एक दक्षिण की भाषा और लिपि प्रत्येक को क्यों न सिखाई जायँ? उत्तर में तो हिंदी-उर्दू वाले एक दूसरे की भाषा बिना सीखे हुए ही अपना सब साधारण काम चला लेते हैं। रही हिंदुस्तानी शैली के विकास की बात, सो सैकड़ों वर्षों से हिंदी-उर्दू साथ-साथ चल रही हैं, हिंदी-उर्दू वाले साथ-

साथ रहते हैं, हजारों व्यक्ति हिंदी और उर्दू दोनो के विद्वान् रहे हैं और अब भी हैं, फिर हिंदुस्तानी शैली का विकास क्यों नहीं हुआ ? युक्त प्रांत के स्कूलों में प्रथम भाषा हिंदी-वालों के लिये उर्दू और प्रथम भाषा उर्दू वालों के लिये हिंदी दूसरी भाषा के रूप में अनिवार्य विषय है, फिर हिंदुस्तानी शैली का विकास क्यों न हुआ ? हिंदुस्तानी एकाडेमी की क़ब्र युक्त प्रांत में ही बनी, यह भूलना न चाहिए।

'हिंदी-उर्दू की मिली-जुली शैली' आसान होगी या और कठिन, यह पहले बतलाया जा चुका है।

(१३) "राष्ट्र-भाषा के लिये सिर्फ़ देवनागरी या सिर्फ़ उर्दू-लिपि स्वीकार करना आज की हालत में असंभव है।"

अब आए असलियत पर। हिंदुस्तानी-वाद का तार्किक आधार कुछ नहीं, 'हिंदुस्तानी' और 'दोनो लिपि' की जो लंबी-चौड़ी वकालत की जाती है, उसमें सार नहीं, 'हिंदुस्तानी' और 'दोनो लिपि' मजबूरी का रास्ता है, यह अग्रवालजी ने स्वयं स्वीकार कर लिया। परंतु उन्हें मालूम होना चाहिए कि दोनो लिपि रहते भाषा का एक होना भी असंभव है। हिंदुस्तानी के हिमायती इस मूल तत्त्व को भूल जाते हैं। लिपि भिन्न होने के कारण ही उर्दू हिंदी से अलग हुई, उसका अलग विकास हुआ, और हो रहा है। लिपि के कारण ही हिंदी-उर्दू की धाराएँ सैकड़ों साल तक एक साथ प्रवाहित होने पर भी मिलकर एक न हुईं, अपितु और दूर

होती जा रही हैं। आज दोनो लिपि रहते भाषा एक हो ही नहीं सकती। हिंदी-उर्दू के एक होने की पहली शर्त यही है कि उस बिंदु पर वापस लौटा जाय, जहाँ से वे अलग-अलग हुईं। संसार की 'भाषा' नाम को सार्थक करनेवाली किसी भाषा की दो लिपियाँ नहीं। (यदि अँगरेजी की दो लिपियाँ हो जायँ, तो अनुमान कर लीजिए क्या अवस्था होगी।) लिपि भाषा का एक प्रधान अंग होती है, इसे पं० नेहरू भी मानते हैं। बिना एक लिपि हुए हिंदी और उर्दू एक हो ही नहीं सकतीं और दो लिपि होने पर हिंदुस्तानी शैली एक रह ही नहीं सकती। सब भाषा-शास्त्री इस विषय पर एक मत हैं। पिछला इतिहास इस बात की पुष्टि करता है। हिंदुस्तानी गढ़ने और चलाने के पिछले सब प्रयत्न इसी लिपि की चट्टान से टकराकर चकनाचूर हुए हैं। हिंदुस्तानी के हिमायती पिछली बातों से और भाषा-शास्त्रियों के मत से लाभ न उठाकर एक भाषा और दो लिपि की बेसुरी अलाप रहे हैं, व्यर्थ का संघर्ष उत्पन्न कर रहे हैं और राष्ट्र की शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं, यह हमारा दुर्भाग्य है।

[कहा जा सकता है कि जब दोनो लिपि रहते हिंदी-उर्दू मिलकर एक हो ही नहीं सकतीं, तो 'हिंदुस्तानी' से घबराने की क्या ज़रूरत है, क्यों न हिंदुस्तानीवालों को अपने दिल का हौसला निकाल लेने दिया जाय? परंतु नहीं;

घबराने की और बहुत घबराने की जरूरत है। दोनो लिपि रहते हिंदी-उर्दू मिलकर हिंदुस्तानी नहीं बन सकतीं, परंतु वर्धा की हिंदुस्तानी तो उर्दू बन सकती है। ('हरिजन-सेवक' की भाषा देख लीजिए।) यह पहले बतलाया जा चुका है। दोनो लिपि रहते व्यवहार में हिंदी-उर्दू मिलकर एक होने से रहीं, 'हिंदुस्तानी' से केवल इतना होना है कि हिंदी शैली विकृत होती चली जायगी (यह हो रहा है; उर्दू अपने घर में सुरक्षित है, उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता), 'हिंदुस्तानी' वास्तव में उर्दू होते हुए भी अपने नाम के प्रताप से हिंदी के अधिकारों पर हाथ साफ़ कर देगी (जैसे रेडियो में) और चूँकि बेचारे हिंदू, हिंदी और हिंदू-प्रांत कांग्रेस की मुट्ठी में हैं, कांग्रेस-सरकारों द्वारा हिंदुओं पर वर्धा की हिंदुस्तानी लादी जायगी, हिंदू और हिंदी-प्रांतों में हिंदी निकालकर वर्धा की हिंदुस्तानी, दोनो लिपियों-सहित, राजभाषा, स्कूलों की भाषा आदि बनाई जायगी। यह सब हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। इसका और हिंदुस्तानी-वाद के दूसरे चरण 'हिंदी-उर्दू दोनो सीखो' का क्या परिणाम होगा, इस पर आगे विचार किया जायगा।]

लिपि के विषय में एक और अत्यंत महत्त्व-पूर्ण बात है। यदि 'दोनो लिपि' की अव्यावहारिकता के पहलू को छोड़ भी दिया जाय, तो उर्दू-लिपि में हिंदी के अधिकांश संस्कृत शब्द अर्थ का अनर्थ किए बिना लिखना संभव ही नहीं।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि बहुत हद तक उर्दू अपनी लिपि के कारण ही अरबी-फ़ारसी शब्दों से लदती गई (देखिए युक्त प्रांत की राजभाषा उर्दू का इतिहास, विशेषकर राजा शिवप्रसाद की टिप्पणियाँ) और लदती जा रही है। यदि देवनागरी के साथ उर्दू-लिपि भी राष्ट्र-भाषा के लिये स्वीकृत हो जाती है, तो जहाँ एक ओर उर्दू को अपनी लिपि के कारण हिंदुस्तानी के प्रभाव से बचे रहने में सहायता मिलेगी, अर्थात् जहाँ उर्दू-लिपि उर्दू की विशुद्धता की रक्षा के लिये एक अतिरिक्त क़िले* का काम करेगी, वहाँ दूसरी ओर हिंदुस्तानी भी अपनी एक लिपि फ़ारसी के कारण अरबी-फ़ारसी शब्दों से लदती जायगी, और संस्कृत शब्द एक-एक करके निकलते जायँगे। चूँकि हिंदुस्तानी का कोई सिद्धांत नहीं, हिंदुस्तानी में किसी भी अरबी-फ़ारसी शब्द पर कोई रोक-टोक नहीं, जब कोई उर्दू-लिपि में हिंदुस्तानी लिखने बैठेगा, तो लिपि अनजाने में उसे संस्कृत शब्दों को त्यागकर अरबी-फ़ारसी पर्याय लिखने को प्रेरित करेगी। फिर यही हिंदुस्तानी देवनागरी में भी

---

* उर्दू के पहले दो क़िले ये हैं—(१) पंजाब, सीमा-प्रांत, सिंध आदि में, जो कांग्रेस या गांधीजी के हिंदुस्तानीवाद की पहुँच के बाहर हैं, उर्दू का अखंड राज्य; (२) उर्दू का मतरूकवाद; उर्दू-लेखकों का हिंदी-अज्ञान और उनकी हिंदी न सीखने की दृढ़ प्रतिज्ञा। हिंदी का पहला क़िला कांग्रेस ने सर कर लिया है और दूसरे क़िले का फाटक हिंदीवालों ने स्वयं खोल रक्खा है।

अपने आप लिखी जायगी। (नहीं तो 'भाषा एक, लिपि दो' कैसे चरितार्थ होगा ?) प्रथम तो वर्धा के कारीगर ही हिंदुस्तानी गढ़ते समय उर्दू-लिपि की सुविधा का पूरा ध्यान रक्खेंगे (यों कहिए, रखना पड़ेगा)। राजा शिवप्रसाद ने इसीलिये एक बार कहा था कि अदालतों में फ़ारसी-लिपि रहते हिंदी-संस्कृत शब्दों की आशा करना दुराशा-मात्र है, इसलिये पहले फ़ारसी-लिपि को निकालकर देवनागरी की प्रतिष्ठा करो। सारांश यह कि या तो हिंदुस्तानी की केवल एक लिपि, देवनागरी, हो सकती है या हिंदुस्तानी उर्दू हो जायगी। अब की गंगा उल्टी बहेगी—राजा शिवप्रसाद ने कहा, फ़ारसी-लिपि रहते (उर्दू में) हिंदी-संस्कृत शब्द आ नहीं सकते; डॉ० ताराचंद सोचते हैं, देवनागरी के साथ फ़ारसी-लिपि लगा दो, हिंदुस्तानी अपने आप उर्दू हो जायगी। माना, गांधीजी ऐसा नहीं सोचते, परंतु उनके दिल की सफ़ाई प्राकृतिक नियमों में बाधा नहीं डाल सकती, 'देवनागरी और फ़ारसी-लिपि दोनो' के अनिवार्य परिणाम को घटित होने से नहीं रोक सकती।

आज हमें राष्ट्र-भाषा में संस्कृत और प्राकृत का समस्त साहित्य उतारना है। वह उर्दू-लिपि में कैसे लिखा जायगा ? गीता का हिंदुस्तानी-अनुवाद फ़ारसी-लिपि में कैसे छपेगा ? और जैसा हिंदुस्तानी में छप सकेगा, उसे पढ़कर, श्रीमुंशी के शब्दों में, मर मिटने की शक्ति

कैसे आएगी ? वह राष्ट्र-भाषा ही क्या, जिसमें राष्ट्र-साहित्य न हो, और वह राष्ट्र-साहित्य ही क्या, जिसे पढ़कर मर मिटने की शक्ति न आए ? क्या हिंदी और क्या राष्ट्र-भाषा, संस्कृत की समृद्धि के बिना कोई बड़ी नहीं हो सकती। "यदि मैं बड़ा होता हूँ, तो अपनी शक्तियों से।"

हमारे पूर्वजों ने हमें सिखाया, शब्द का अशुद्ध उच्चारण करने से पाप होता है, मंत्र का अशुद्ध उच्चारण करने से उसका फल नहीं होता, और उन्होंने हमें एक ऐसी लिपि भी दी, जो पूर्णता की पराकाष्ठा थी, जिसमें दस हज़ार साल पुराने उच्चारण सुरक्षित हैं, आज भी हम अपने एक शब्द का उच्चारण वैसा ही कर सकते हैं, जैसा हमारे पूर्वज करते थे। अब हमें उर्दू-लिपि 'साहित्या', 'सभापती', 'आचारिया नरेंदर देओ', 'बरत' सिखाएगी ? अब हमारे बच्चे 'रामायण' को 'रामायन', 'गणेश' को 'गनेश', 'ब्राह्मण' को 'बरहमन' कहना सीखेंगे ? आज हम कृष्ण, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर का ठीक-ठीक नाम भी न ले सकेंगे ? यदि किसी को संदेह हो, तो सुन लें रेडियो के हिंदुस्तानी माहिरों का उच्चारण। उन बेचारों का दोष नहीं, यह उर्दू लिपि का वरदान है या कहिए अभिशाप है, जो भारत में हो भारतीयों को भारतीय नामों और शब्दों के शुद्ध उच्चारण से भी वंचित करना चाहता है ❀।

❀ है किसी राष्ट्रीय सरकार को हिम्मत कि 'दोनो लिपि' रहते

कांग्रेस कहती है कि विधान-निर्मात्री सभा दो असमान ('डिस्पैरेट') तत्त्वों से नहीं बन सकती। देवनागरी और फ़ारसी-लिपि दो ऐसी असमान लिपियाँ हैं, जो राष्ट्र-भाषा के लिये साथ-साथ नहीं चल सकतीं। 'दोनो लिपि' से राष्ट्र-भाषा की हालत उस रथ-जैसी हो जायगी, जिसका एक पहिया बहुत बड़ा हो और दूसरा बहुत छोटा। वह रथ कभी आगे बढ़ ही नहीं सकता। 'दोनो लिपि' एक बिलकुल, बिलकुल असंभव और अमान्य बात है।

कांग्रेस और गांधीजी ने 'अखंड हिंदुस्तान' को आज की हालत में अत्यंत कठिन और दुष्कर जानते हुए भी पाकिस्तान स्वीकार नहीं किया। वे राष्ट्र-लिपि का पाकिस्तान क्यों स्वीकार करना चाहते हैं?

(१४) "अगर मुझे अपने सभी मित्रों से हिंदुस्तानी में ही खतोकिताबत करनी है, और अँगरेज़ी का प्रयोग बिलकुल बंद करना है, तो मेरे लिये नागरी और उर्दू दोनो लिपियाँ सीख लेना आवश्यक है।"

क्यों? भारत में न केवल दो भाषाएँ हिंदी और उर्दू हैं और न केवल दो लिपियाँ देवनागरी और फ़ारसी।

रेडियो को हुक्म दे सके कि कम-से-कम रेडियो-कार्य की लिपि से जनता का कोई संबंध नहीं, इसलिये रेडियो की हिंदुस्तानी सूचनाएँ, समाचार, आदि सरकारी प्रोग्राम सब केवल देवनागरी में लिखे जायँ?

श्रीअग्रवाल के लिये सभी मित्रों से हिंदुस्तानी और दोनो लिपियों में खतोकिताबत करना तभी तो संभव होगा न, जब सबको हिंदुस्तानी और दोनो लिपियाँ सिखा दी जायँगी। जिस प्रकार वह सबको हिंदुस्तानी और दोनो लिपि सिखाना चाहते हैं, उसी प्रकार सबको हिंदी और केवल देवनागरी क्यों नहीं सिखाते, और सभी मित्रों से हिंदी और देवनागरी में खतोकिताबत क्यों नहीं करते? यदि उन्हें बिना किसी को कुछ सिखाए सबसे खतोकिताबत करनी है, तो बंगाली मित्रों से खतोकिताबत करने के लिये बँगला और बँगला-लिपि सीखें, तामिल मित्रों से खतोकिताबत करने के लिये तामिल और तामिल-लिपि सीखें, आदि, अर्थात् कम-से-कम १४ भाषाएँ और १३ लिपियाँ सीखें। ईसाई और भारतीय अँगरेज मित्रों से खतोकिताबत करने के लिये अँगरेजी और रोमन लिपि भी सीखें, सिक्ख मित्रों से खतोकिताबत करने के लिये उनकी धार्मिक लिपि गुरुमुखी सीखें। दो ही लिपि क्यों? राष्ट्र की 'पूरी सेवा' के लिये और अँगरेजी का सहारा बिलकुल छोड़ने के लिये केवल नागरी और उर्दू-लिपि की जानकारी आवश्यक क्यों? (और अँगरेजी और रोमन-लिपि से ही एकदम इतनी घृणा क्यों?)

१४ भाषाओं और १३ लिपियों के पुलंदे को हलका करने के लिये ही एक राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता

है। ऐसा कोई काम नहीं, जो एक राष्ट्र-शैली और एक राष्ट्र-लिपि से न हो सके, दो की आवश्यकता पड़े।

अंत में घूम-फिरकर इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि हिंदी और देवनागरी में कोई ऐसी मौलिक त्रुटि नहीं, जिसे पूरा करने के लिये हिंदी की हिंदुस्तानी और देवनागरी के स्थान में 'दोनो लिपि' करना पड़े। ऐसा करने से उल्टे कठिनाइयाँ और उलझनें और बढ़ती हैं। है केवल संभव और असंभव की बात, सो टंडनजी भी मानते हैं कि आज की स्थिति में आशा नहीं कि उर्दू वाले हिंदी और देवनागरी स्वीकार कर लेंगे। इसीलिये उन्होंने कांग्रेस के मंच से प्रस्ताव में शब्द 'हिंदुस्तानी' रक्खा, हिंदुस्तानी = हिंदी + उर्दू का गणित पेश किया, प्रत्येक को स्वतन्त्रता दी कि वह चाहे हिंदी में बोले और चाहे उर्दू में, और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के मंच से स्वयं हिंदी और देवनागरी द्वारा देश में जितनी एकता स्थापित हो सकती है, उतनी एकता स्थापित करने का काम हाथ में लिया। टंडनजी का गांधीजी के उर्दू-प्रचार से कोई विरोध नहीं। वह तो केवल यह कहते हैं कि प्रत्येक के लिये हिंदी और उर्दू दोनो का सीखना अनिवार्य न किया जाय—जो चाहे हिंदी सीखे और जो चाहे उर्दू सीखे, अर्थात् हिंदी और उर्दू दोनो ही राष्ट्र-भाषाएँ मान ली जायँ। इस संबंध में यह याद रखने की बात है कि जब गांधीजी ने हिंदुस्तानी

प्रचार-सभा की नींव डाली, तब राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति के प्रधान मंत्री श्रीभदंत आनंद कौशल्यायन ने गांधीजी से कहा, बापू, यह राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति का पौधा भी आपकी छाया तले बढ़ा है, यह समिति हिंदी-प्रचार कर रही है, आप उर्दू-प्रचार-सभा स्थापित करके उर्दू का प्रचार करें, तो परस्पर सहयोग से काम हो सकेगा। गांधीजी इस पर सहमत नहीं हुए। कौशल्यायनजी ने फिर कहा, अच्छा, जो विद्यार्थी राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति की हिंदी-परीक्षा पास कर चुका हो, उसे आप हिंदी न पढ़ने की छूट दे दें (ऐसा सब शिक्षा-संस्थाएँ करती हैं), और उसे अपनी सभा की केवल उर्दू-परीक्षा पास करने पर हिंदुस्तानी का डिप्लोमा दे दें। गांधीजी इसके लिये भी राजी नहीं हुए। अब आप ही कहें कि आज के हिंदी-हिंदुस्तानी-संघर्ष की जिम्मेदारी किसके ऊपर है? सच तो यह है कि यदि आज हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा, जैसा कि वह कहती है कि हिंदुस्तानी को कोई व्यक्ति या संस्थाविशेष नहीं गढ़ सकती, हिंदुस्तानी गढ़ने का प्रयत्न करना छोड़ दे, हिंदी-शैली का सौष्ठव नष्ट न करे, ईमानदारी के साथ हिंदुस्तानी=हिंदी+उर्दू का गणित मान ले, और हिंदी-उर्दू-प्रचार-सभा बनकर हिंदी और उर्दू दोनो का प्रचार करे, और प्रत्येक को स्वतंत्रता दे दे कि जो चाहे हिंदी की परीक्षा में बैठे, जो चाहे उर्दू की परीक्षा में बैठे, और जो चाहे दोनो

की परीक्षा में बैठे, तो हिंदी-हिंदुस्तानी का सैद्धांतिक विरोध बहुत हद तक मिट जाय (यद्यपि व्यावहारिक विरोध फिर भी रहेगा, क्योंकि व्यवहार में हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा का काम केवल हिंदी और हिंदू प्रांतों में हिंदुओं के रुपए से हिंदुओं द्वारा हिंदी जाननेवाले हिंदुओं को उर्दू पढ़ाना है)। ऐसी अवस्था में जिस भाषा में अधिक नैसर्गिक शक्ति होगी, जिसमें राष्ट्र को अधिक सुविधा होगी, वह अपने आप प्रधान हो जायगी (जिस प्रकार कैनाडा में, जहाँ अँगरेज़ी और फ़्रेंच दो राष्ट्र-भाषाएँ हैं, और जहाँ अँगरेज़ीवालों के लिये फ़्रेंच और फ़्रेंचवालों के लिये अँगरेज़ी सीखना अनिवार्य नहीं, अँगरेज़ी प्रधान हो गई है)। एक समय आ सकता है, जब मुसलमान भी हिंदी और देवनागरी को राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि स्वीकार कर लें। आज दोनो को राष्ट्र-भाषा मानना पड़ेगा। जिस प्रकार युग-धर्म दो लिपियों को राष्ट्र-लिपि मानने पर मजबूर करता है, उसी प्रकार दो शैलियों को भी राष्ट्र-भाषा मानने पर मजबूर करता है। आज हिंदीवाले आधे संस्कृत शब्द छोड़कर या उर्दूवाले आधे अरबी-फ़ारसी शब्द छोड़कर किसी हिंदुस्तानी शैली को स्वीकार कर लें, यह असंभव है। यह भी याद रखना चाहिए कि यदि अँगरेज़ी को निकालना है, तो उसी के समान अति समृद्ध और निश्चित शैली उसका स्थान लेने के लिये चाहिए, नहीं तो अँगरेज़ी का तौक़ गले में पड़ा रहेगा। अँग-

रेजी का स्थान एक अनगढ़, अनिश्चित, कृत्रिम, 'न संस्कृत, न अरबी-फ़ारसी'वाली हिंदुस्तानी शैली नहीं ले सकती, जिसकी रूप-रेखा भी अभी तय नहीं हुई है, जिसमें अभी तक किसी काम का साहित्य नहीं, और जिसके स्वरूप के विषय में भारी मतभेद है और रहेगा। यह भी याद रखना चाहिए कि हिंदुस्तानी शैली का स्वाभाविक विकास जब होगा तब होगा, परंतु हमें तो कल ही से राष्ट्र-भाषा में काम करना है, कल ही से राष्ट्रीय सरकार को गजट सूचनाएँ, रिपोर्टें, आदि-आदि राष्ट्र-भाषा में छापना है। यदि हिंदी और उर्दू दोनो को निस्संकोच, बिना बड़बड़ाए हुए, बिना नाक-भौं चढ़ाए राष्ट्र-भाषा स्वीकार कर लें, तो ये सब कठिनाइयाँ तुरंत हल हो जाती हैं। हिंदुस्तानीवाद के अनुसार आखिर दो लिपियों में तो छापना ही है, दोनो शैलियों को भी अपने-अपने परंपरागत रूप में अपनाना पड़ेगा। कैनाडा में अँगरेज़ी और फ्रेंच दो नितांत भिन्न भाषाएँ राष्ट्र-भाषाएँ हैं, हिंदी और उर्दू तो फिर एक मूलभाषा के दो विकसित रूप होने के कारण एक दूसरी के निकट हैं, और एक केवल हिंदी जाननेवाले और एक केवल उर्दू जाननेवाले के बीच में साधारण बातचीत बड़े मज़े में हो सकती है। जिनको आवश्यकता पड़ेगी (जैसे राष्ट्रीय कार्यकर्ता, शासकवर्ग, केंद्रीय असेंबली के सदस्य, राजमंत्री इत्यादि), वे अपने आप हिंदी और उर्दू दोनो सीख लेंगे, जिस प्रकार कैनाडा में

होता है। एक हिंदी जाननेवाला उर्दू और एक उर्दू जाननेवाला हिंदी अपेक्षाकृत जल्दी सीख सकता है। इस प्रकार किसी को शिकायत न रहेगी, कोई टंटा न रहेगा और जब हिंदुस्तानी की मोहनी हिंदी-उर्दू में झगड़ा कराने को न रहेगी, तो वातावरण भी शुद्ध हो जायगा, और अधिकाधिक व्यक्ति अपने आप हिंदी-उर्दू दोनो सीखना चाहेंगे, और यदि बाद को देश ने केवल एक राष्ट्र-लिपि को स्वीकार कर लिया, तो हिंदुस्तानी शैली का स्वाभाविक विकास भी हो सकेगा।

आगे श्रीअग्रवाल लिखते हैं—"नागरी और उर्दू-लिपियों के पीछे, हमारे दुर्भाग्य से, कुछ सांप्रदायिक भावना पैदा हो गई है। हम रोमन-लिपि सीखने के लिये फ़ौरन् तैयार हो जाते हैं। लेकिन एक हिंदू समझने लगा है कि उर्दू सीखने से वह मुसलमानी तहज़ीब को स्वीकार करता है। मुसलमान ख़याल करने लगे हैं कि नागरी-लिपि हिंदू-संस्कृति का एक मुख्य अंग है।" अग्रवालजी ने लिपियों के विषय में जो जो बात कही हैं, वे ही बातें अक्षरशः हिंदी-शैली और उर्दू-शैली, संस्कृत-शब्दों और अरबी-फ़ारसी-शब्दों के विषय में भी सत्य हैं। लिपि की भाँति अपनी शैली भी कोई छोड़ना नहीं चाहता, अपने शब्द भी कोई नहीं छोड़ना चाहता। दोनो लिपियों की भाँति दोनो शैलियों को भी लेना पड़ेगा, हिंदुस्तानी शैली किसी को मान्य नहीं।

अग्रवालजी ने लिपियों के साथ लगी हुई सांप्रदायिक भावना को 'ग़ैर मुनासिब' बतलाया है, और उसे दूर करने का नुस्ख़ा यह बतलाया है कि सबको दोनो लिपि सिखा दी जायँ। भावना अवश्य 'ग़ैर मुनासिब' है; परंतु इस भावना को उत्पन्न करनेवाले, जमानेवाले और भारत के कोने-कोने में ले जानेवाले कौन हैं? ये आवाज़ें कौन लगा रहा है कि देश में मुसलमान भी हैं, उनकी भाषा और लिपि को नहीं छोड़ा जा सकता? (काका कालेलकर के भाषण सुन लें।)❀ हम तो न उर्दू को केवल मुसलमानों की भाषा मानते हैं और न हिंदी को केवल हिंदुओं की। इसी प्रकार न फ़ारसी-लिपि में केवल मुसलमान लिखते हैं और न देवनागरी में केवल हिंदू। हम राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के विषय में ज्ञान और

❀ यदि भारतीय मुसलमानों की संस्कृति और भाषा अलग मान भी ली जायँ (यद्यपि ऐसा है नहीं), तो उनकी संस्कृति और भाषा का प्रतिनिधित्व करने के लिये हिंदी में प्रचलित सैकड़ों अरबी-फ़ारसी शब्दों और मुहावरों, या कहिए उर्दू-भाषी मुसलमानों की भाषा और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने के लिये हिंदी में प्रचलित सैकड़ों उर्दू-शब्दों और मुहावरों से काका कालेलकर उसी प्रकार संतुष्ट क्यों नहीं होते, जिस प्रकार वह भारतीय अँगरेज़ों, ऐंग्लो-इंडियनों और ईसाइयों की भाषा और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने के लिये हिंदी में प्रचलित अँगरेज़ी शब्दों से संतुष्ट हैं? (भविष्य में भी आवश्यक शब्द अरबी-फ़ारसी से उसी प्रकार लिए

विज्ञान से काम लेना चाहते हैं, परंतु हिंदुस्तानीवाद और 'दोनो लिपि'वाद ने हमारे रास्ते में और कठिनाइयाँ खड़ी कर दी हैं। यही भावना दूर करनेवाले नुस्खे की बात, सो युक्त प्रांत में, जहाँ प्रत्येक बालक को दोनो लिपियाँ सिखाई जाती हैं, यह भावना दूर क्यों न हुई? यदि आप चाहते हैं कि धोती और पाजामा के साथ सांप्रदायिक भावना न जुड़े, तो इसका इलाज यह है कि आप धोती और पाजामा दोनो को राष्ट्रीय पोशाक मान लें, और प्रत्येक की इच्छा और सुविधा पर छोड़ दें कि वह चाहे तो धोती पहने, चाहे तो पाजामा पहने और चाहे तो दोनो पहने, अथवा इसका इलाज यह है कि सबसे धोती और पाजामा दोनो अनिवार्य रूप से पहनने के लिये कहा जाय

जायँगे, जिस प्रकार अँगरेज़ी से)। भारत में केवल मुसलमान-ही-मुसलमान तो नहीं हैं, उनसे तिगुने हिंदू और अन्य धर्मों के अनुयायी भी तो हैं। और, भारतीय मुसलमान भी तो सब-के-सब उर्दू नहीं बोलते, अरबी-फ़ारसी नहीं झाड़ते (और फ़ारसी-लिपि में नहीं लिखते)। राष्ट्र-लिपि तो एक ही हो सकती है, उसमें विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों का समावेश संभव ही नहीं। यदि फ़ारसी-लिपि में लिखनेवाले मुसलमानों के कारण देवनागरी के साथ फ़ारसी-लिपि लगाई जाय, तो सिक्खों के कारण उनकी धार्मिक लिपि गुरुमुखी और ईसाइयों की लिपि रोमन भी साथ लगाई जाय!

(कभी धोती और कभी पाजामा या एक पैर में धोती और एक पैर में पाजामा !) ?※

अव्यावहारिकता के पहलू को अग्रवालजी ने बातों में टालना चाहा है। ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि दोनो लिपि रहते भाषा एक हो ही नहीं सकती और जिन कारणों

※ कहा जा सकता है कि धोती या पाजामा, यह तो व्यक्तिगत मामला है, आप कुछ पहनें, उससे किसी दूसरे का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता, परंतु भाषा तो आपसी व्यवहार का माध्यम है, उसे प्रत्येक की इच्छा पर कैसे छोड़ा जा सकता है ? ठीक है, परंतु यहाँ केवल श्रीअग्रवाल के भावना-मारक नुस्खे के आधारभूत सिद्धांत का खंडन किया गया है। हिंदू-धर्म और इस्लाम के साथ जो सांप्रदायिक भावनाएँ (प्रत्यक्ष हैं) जुड़ी हुई हैं, उन्हें दूर करने का (क्या दूर करना आवश्यक ही है ?) न यह उपाय है कि दीन-इलाही बनाई जाय (क्या वह अकबर के चलाए चल सकी ? अब यह भी कौन कह रहा है कि यदि दीनइलाही चल जाती, तो हिंदू-धर्म का अस्तित्व मिट जाता ?) और न यह है कि प्रत्येक से प्रातःकाल उठकर गीता और क़ुरान दोनो का पाठ करने के लिये कहा जाय, आदि-आदि। हिंदी और उर्दू दोनो राष्ट्र-भाषा मान ली जाने के बाद हिंदी जाननेवालों और उर्दू जाननेवालों के बीच में व्यवहार संभव करने के लिये हिंदी और उर्दू दोनो प्रत्येक के लिये अनिवार्य विषय क्यों न किए जायँ, इसके दूसरे पहलू हैं। उन पर अपनी-अपनी जगह पर विचार किया गया है। एक मुख्य पहलू अव्यावहारिकता का है, जिस पर आगे विचार किया गया है।

से दोनो लिपि रक्खी जा रही हैं, उन्हीं कारणों से दोनो शैलियों को रखना होगा, और जिस नुस्खे के अनुसार श्री-अग्रवालजी दोनो लिपि सिखाना आवश्यक समझते हैं, उसी के अनुसार दोनो शैली सिखाना भी आवश्यक होगा। अर्थात् केवल दो लिपियों की बात नहीं, दोनो शैलियों की भी बात है। हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के विषय-क्रम में आज भी एक शैली और दो लिपियाँ नहीं, वरन् दोनो शैलियाँ और दोनो लिपियाँ अनिवार्य हैं। यह नितांत अव्यावहारिक है। यदि केवल दो लिपियों को ही लें, तो लिपि के अक्षरों को सिखाने-मात्र से काम नहीं चलता, असली चीज उस लिपि में शुद्ध और शीघ्र लिखने और पढ़ने की योग्यता प्राप्त करना है। अब यह उर्दूवालों से ही अग्रवालजी पूछ देखें (या उनकी पहले कही हुई बातों को पुस्तकों में पढ़ लें) कि एक साधारण योग्यता के बालक को उर्दू-लिपि में शुद्ध (अथवा अशुद्ध) लिखना और पढ़ना सीखने में कितने वर्ष लगते हैं, और कितना परिश्रम करना पड़ता है। युक्त प्रांत में चौथी कक्षा से आठवीं कक्षा तक हिंदीवाले विद्यार्थियों को उर्दू-लिपि सीखना पड़ती है, और फिर भी उन्हें उर्दू-लिपि में शुद्ध और शीघ्र लिखना-पढ़ना नहीं आता। दोनो लिपियों के साथ दोनो शैलियाँ और लगा दीजिए, फिर अव्यावहारिकता का पूरा पता लग जायगा।

अग्रवालजी लिखते हैं कि रोमन-लिपि की चार शक्लें

हट जाने पर दोनो लिपि सीखना मुश्किल न रहेगा। प्रथम तो 'रोमन की चार शक्लें', इसमें अत्युक्ति है—इटैलिक्स को एक अलग शक्ल नहीं माना जा सकता, और दो कैपिटल शक्लें भी भिन्न नहीं हैं। रोमन की दो शक्लें हैं, और दो ही प्रत्येक टाइपराइटर में होती हैं। मुख्य बात यह है कि लिपि में एक अक्षर की दो शक्लें होने से अधिक अंतर नहीं पड़ता, असली चीज लिपि में हिज्जे करना और लिखना-पढ़ना होती है, और रोमन-लिपि में इतना आ जाने के बाद केवल अक्षरों की भिन्न शक्लें याद करना-भर रह जाता है। दूसरे, अग्रवालजी ने अँगरेज़ी और रोमन-लिपि का महत्त्व बहुत कम कूता है। अभी हमें काफ़ी समय तक अपने और राष्ट्र-हित के लिये ही अँगरेज़ी पढ़ना और पढ़ाना पड़ेगी—अँगरेज़ी को हम अंतरप्रांतीय व्यवहार में प्रयुक्त करें अथवा न करें। बाहरी दुनिया से संपर्क रखने के लिये भी अँगरेज़ी की आवश्यकता है। संभवतः हमें स्कूलों में शिक्षा के उसी स्टेज और कक्षा से अँगरेज़ी और रोमन-लिपि सिखाना होगा, जिससे राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि। अब बेचारे अहिंदी बालकों का हाल सुनिए—दसवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते उनके कोमल मस्तिष्क पर चार भाषाओं—मातृभाषा, राष्ट्र-भाषा हिंदी, राष्ट्र-भाषा उर्दू और अँगरेज़ी—और चार लिपियों का बोझ लद जायगा।

चार भाषाओं और चार लिपियों का भारी गट्ठर सिर पर लादकर वह एक अँगरेज या जापानी बच्चे से बुद्धि और विद्या की दौड़ में क्या खाक मुक़ाबला करेगा ? और, यह सब इसी निरक्षर और निर्धन देश में (जहाँ अभी सबको एक भाषा और एक लिपि सिखाने में ही जमाना और क़ारूँ का ख़ज़ाना लगेगा) और हिंदू-मुस्लिम राजनीति से ओत-प्रोत 'राष्ट्रीय नेताओं' के कारण ! परिणाम केवल यह होगा कि वह न मतलब लायक़ हिंदी सीखेगा न उर्दू, उसे न देवनागरी में भली भाँति लिखना-पढ़ना आएगा न उर्दू-लिपि में, और शायद फिर वह दोनो में से कोई सीखेगा ही नहीं। मदरास का हिंदी-विरोधी सत्याग्रह अग्रवालजी को भूला न होगा। एक तो अहिंदियों को राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि सीखने पर तैयार करना ही कठिन है, और ऊपर से यह 'दोनो लिपि' और 'दोनो शैली' का नारा जो थोड़ी-बहुत हरारत पैदा हुई है, उस पर घड़ा-भर पानी उँडेल देगा।

अग्रवालजी अव्यावहारिकता की दलील के विरुद्ध अन्य देशों की मिसाल देते हुए कहते हैं कि स्वीटज़रलैंड में तीन भाषाएँ हैं, कैनाडा में अँगरेज़ी और फ्रेंच दो राष्ट्र-भाषाएँ हैं, और दक्षिण आफ्रीका में अँगरेज़ी और डच राष्ट्र-भाषाएँ हैं। प्रथम तो इन देशों में किसी ने भाषाओं के बीच की खाई को पाटकर एक नई भाषा

या शैली गढ़ने का प्रयत्न नहीं किया, और न भाषाओं के साथ जुड़ी हुई सांप्रदायिक भावना को नष्ट करना जरूरी समझा—सबकी परंपरागत भाषाओं को उसी रूप में ईमानदारी के साथ, चीं-चपड़ किए बिना, स्वीकार कर लिया। दूसरे, इन देशों में प्रत्येक के लिये सब राष्ट्र-भाषाएँ सीखना अनिवार्य नहीं है, और व्यवहार में वे ही सीखते हैं, जिन्हें जरूरत पड़ती है। तीसरे, इन देशों की भाषाएँ अति उन्नत हैं, और अंतरराष्ट्रीय महत्त्व रखती हैं, इसलिये उन्हें मातृभाषा के अतिरिक्त एक विदेशी अंतर-राष्ट्रीय भाषा अँगरेजी सीखने की इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी हमें है। चौथे, इन देशों की विभिन्न मातृ-भाषाएँ ही राष्ट्र-भाषाएँ स्वीकृत की गई हैं, अर्थात् किसी पर राष्ट्र-भाषा के अलावा मातृभाषा का अतिरिक्त बोझा नहीं। उदाहरण के लिये यदि कैनाडा में किसी ने अँगरेजी और फ्रेंच दोनो सीख लीं, तो मातृभाषा भी हो गई और दोनो राष्ट्र-भाषाएँ भी। इसी प्रकार दक्षिण आफ्रीका में। भारत में ऐसा नहीं है। यहाँ राष्ट्र-भाषा हिंदी अथवा उर्दू अथवा दोनो के अतिरिक्त १२ विकसित, समृद्ध और साहित्यिक भाषाएँ हैं, और अहिंदियों पर राष्ट्र-भाषा एक अतिरिक्त बोझ है। पाँचवें, इन समृद्ध, धनी, औद्योगिक और शिक्षित देशों की निरक्षर और निधन, कृषि-प्रधान देश भारत से तुलना नहीं की जा सकती। भारत की तुलना केवल आज से २५

वर्ष पहले के रूस से की जा सकती है। रूस में एक दर्जन से अधिक प्रांतीय भाषाएँ हैं, सब अपने-अपने क्षेत्र में फलती-फूलती हैं, परंतु रूसी सबकी राष्ट्र-भाषा है, और द्वितीय भाषा के रूप में सबके लिये अनिवार्य है।

अग्रवालजी का यह कहना "फिर हिंदुस्तान में तो भाषा एक रहेगी; सिर्फ़ दो लिपियों का ही प्रश्न है", जैसा पहले सिद्ध किया जा चुका है, सर्वथा ग़लत और भ्रांति-मूलक है। चूँकि एक शब्द 'हिंदुस्तानी' मिल गया है, जिससे हिंदी और उर्दू दोनो को जताया जा सकता है, इस कारण न हिंदी और उर्दू का ज़बर्दस्त भेद मिट जायगा, न वे एक भाषा-जैसी हो जायँगी और न उनका पृथक्-पृथक् विकास रुक जायगा। 'हिंदुस्तानी', 'हिंदुस्तानी' रटकर जो अपने आपको और दूसरों को धोखा देना चाहें, उनकी बात दूसरी है। दोनो लिपियों के रहते भाषा एक हो ही नहीं सकती। यह भी स्पष्ट है कि वह 'एक भाषा' हिंदुस्तानीवालों के मस्तिष्क या वर्धा की हिंदुस्तानी साहित्य-समिति या डॉ० ताराचंद के कोष में निवास करती हो तो करती हो, अभी तक कहीं और तो दिखाई पड़ती नहीं। जिन कारणों से दो लिपि गवारा की हैं, उन्हीं कारणों से दो राष्ट्र-भाषा या दो राष्ट्र-शैली भी गवारा करनी पड़ेंगी। दोनो लिपि मंज़ूर करानेवाले 'राष्ट्र-हित' का यही तक़ाज़ा है। हाँ, वह यह कहकर कि यहाँ तो हिंदी और उर्दू एक ही भाषा की दो 'शैलियाँ'

होंगी, जितना आत्मसंतोष प्राप्त करना चाहें, कर सकते हैं—इससे अधिक लोभ करना या प्रलोभन देना अपने आपको और देश को धोखा देना होगा।

अंत में एक और महत्त्व-पूर्ण बात पर ध्यान देना आवश्यक है। टंडनजी भी कभी-कभी हिंदी-उर्दू के समन्वय की बात करते हैं, परंतु प्रथम तो वह यह कहते हैं कि भाषा और लिपि दोनो का ही समन्वय होना चाहिए। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह बात सोलहो आने सत्य है। बिना लिपि के समन्वय के भाषा का समन्वय होना संभव ही नहीं (फ़ारसी लिपि जैसी अपूर्ण और निकृष्ट लिपि रहते समन्वय की हुई भाषा का स्वरूप कैसा हो सकता है, यह भी पहले बताया जा चुका है)। जिन कारणों से दोनो लिपि रखते हो, उन्हीं कारणों से दोनो शैलियाँ रखनी होंगी। दूसरे, टंडनजी कहते हैं कि आप (गांधीजी) समन्वय करना चाहें और उर्दूवाले न चाहें, तो समन्वय नहीं हो सकता। उर्दूवाले समन्वय के लिये तैयार हैं? समझौता दो व्यक्तियों में होता है। क्या इस हिंदुस्तानीवाद, 'दोनो लिपि' अथवा 'हिंदी उर्दू दोनो' पर दूसरी पार्टी—उर्दूवालों की पार्टी—के भी हस्ताक्षर हैं, अथवा यह समझौता, यह हल हमारे ही गले के नीचे उतारा जा रहा है? वर्धा की हिंदुस्तानी उर्दूवालों को भी मान्य है अथवा कभी होगी कि वर्धावाले अपने मन में ही लड्डू फोड़ रहे हैं कि हमारी हिंदुस्तानी ही राष्ट्र-

भाषा है ? किसी समझौते का मूल्य तभी होता है, जब दोनो विरोधी दल उसको मानें। यहाँ तो हालत यह है कि हिंदू हिंदू ही हिंदी और हिंदुस्तानी को लेकर आपस में लड़ रहे हैं। मुसलमानों को न हिंदी से मतलब है, न हिंदुस्तानी से*। उनकी उर्दू सलामत है। हिंदुओं के हिंदी और हिंदुस्तानीवाले दलों में कोई समझौता हो भी जाय, तो उससे क्या होगा ? अफ़सोस तो इस बात का है कि फिर भी कुछ हिंदू अपने आप, असली विरोधी दलों में किसी नियम-बद्ध समझौते के हुए बिना ही हिंदी में से आधे संस्कृत-शब्द निकालकर और उनकी जगह अरबी-फ़ारसी-शब्द धरकर पूरा

---

* जो इक्का-दुक्का मुसलमान 'हिंदुस्तानी' के साथ हैं, वे यह सोचते हैं कि जहाँ उर्दू है या जहाँ उर्दू को होना चाहिए, वहाँ तो उर्दू रहेगी ही, बस जहाँ हिंदी को होना चाहिए, वहाँ ही हिंदी के स्थान में हिंदुस्तानी होगी, और वहाँ हो हिंदुस्तानीवाद उर्दू, उर्दू-शब्दों और उर्दू-लिपि को ले जायगा। इससे अच्छी और कौन-सी बात हो सकती है ! उन्हें ज़रा उर्दू के स्थान में हिंदुस्तानी करने के लिये दबाइए, फट से उत्तर मिलेगा, हम तो नेशनलिस्ट मुसलमान हैं, हम क्या करें; उर्दू प्रांत तो लीगी मुसलमानों के हाथ में हैं ? ठीक है, चित भी मेरी, पट भी मेरी ! थारो माल सो म्हारो माल, म्हारो माल सो हई है ! और कांग्रेस ने हिंदुओं का माल मुसलमानों को पकड़ा देने के सिवा सीखा ही क्या है। यही तो 'स्वराज्य' का सीधा, सच्चा और 'राष्ट्रीय' मार्ग है !

रहे हैं, अच्छा, अब राजी हो, और मुसलमान कह रहे हैं, ऊँहुक, यह भी नहीं। अग्रवालजी अपने मुँह से कहते हैं, "उर्दूवाले हिंदी कम सीखें या न सीखें, यह दूसरी बात है।" यह दूसरी बात नहीं, मुख्य बात है। फिर वह सफ़ाई देते हुए कहते हैं, "लेकिन गांधीजी का ज़ोर हिंदी और उर्दू दोनो पर है, एक पर नहीं।" यह एक बिलकुल बेकार बात है। उर्दूवालों के रुख़ से समझना तो गांधीजी को यह चाहिए था कि उनका नया दर्शन भी उर्दूवालों को मान्य नहीं, उनका नया सिद्धांत ग़लत है, उससे समस्या का हल नहीं होता, फिर हिंदी की हत्या क्यों की जाय? गांधीजी एक सामान्य व्यक्ति नहीं। राष्ट्र के एक बड़े नेता को अपनी मनमानी करने का, इच्छानुसार प्रयोग करने का अधिकार नहीं होता। उसमें राष्ट्र को ऊँचा उठाने की जितनी शक्ति होती है, राष्ट्र उसकी ग़लती से उतना ही नीचे गिर भी सकता है। उसमें दोनो शक्तियाँ समान मात्रा में रहती हैं। क्या उन्होंने सोचा है कि उनका हिंदुस्तानी आंदोलन जो रूप धारण कर रहा है, उसका क्या परिणाम होगा, अथवा क्या अग्रवालजी का इतना कहना काफ़ी हो जायगा कि गांधीजी किसी पर ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं करते? अगर, जैसा कि हो रहा है, हिंदुस्तानी आंदोलन के फल-स्वरूप केवल हिंदीवालों और हिंदुओं ने उर्दू सीखी और इसलिये यदि केवल हिंदुओं के मुख से (अथवा वर्धा से अवतरित होकर हिंदुओं की जटा से) प्रवाहित होकर सर-

स्वती 'हिंदुस्थान' में ही बही, हिंदुओं ने ही उसमें डुबकियाँ लगाईं और पाकिस्तान उसी प्रकार यमुना किनारे बसा रहा और पाकिस्तानी उसी प्रकार यमुना-सेवन करते रहे, तो इस सरस्वती से किसको स्वर्ग-लाभ होगा ? सरस्वती का यमुना से फिर संगम कराया जायगा, दोनो के बीच की खाई फिर पाटी जायगी, और अंत में सरस्वती में केवल यमुना का जल दीख पड़ेगा ! यही गांधीजी चाहते हैं न ? चाहते हों या न चाहते हों, उनके हिंदुस्तानी आंदोलन का फल यही होगा। यदि हिंदीवाले हिंदुस्तानीवाद की लपेट में आकर हिंदी उर्दू दोनो सीखकर दोनो के पंडित हो गए, और उर्दू-वाले केवल उर्दू में ही रमते रहे, तो वास्तविक राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि अपने आप हुई हिंदी और देवनागरी, हिंदुस्तानी और दोनो लिपि, अथवा उर्दू-ए-मुअल्ला और केवल फ़ारसी-लिपि ? गांधीजी का तो 'अहिंसात्मक' आग्रह, 'प्रेम का तक़ाज़ा' ही रहा, मारे गए हम। अग्रवालजी का यह कहना कि गांधीजी का आंदोलन सरकारी फ़र्मान नहीं है, यह सब जनता की ख़ुशी पर है, यदि जनता गांधीजी का बात न माने, तो सरकार भी ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं कर सकती, आदि, बाल की खाल निकालना है। कांग्रेस सरकारों ने कौन-सा काम गांधीजी के इशारे पर नहीं किया है ? बस, विभिन्न कांग्रेस प्रांतों के शिक्षा-मंत्रियों की वर्धा में एक कॉन्फ़्रेंस बुलाकर सभापति के पद से गांधीजी का 'एक प्रेम का तक़ाज़ा'

करते हुए भाषण यथेष्ट है, और दूसरे दिन से हिंदी और हिंदू-प्रांतों में हिंदुस्तानी और दोनो लिपि की सरस्वती सबके सिर पर अर्रा पड़ेगी। जनता को कौन पूछता है? बिहार में ही जनता ने हिंदुस्तानी का इतना विरोध किया, उसकी कुछ सुनवाई हुई? फिर, हिंदू-जनता तो मूक है, उसकी राष्ट्रीय नेताओं में अंध-भक्ति है, अगर कांग्रेस-नेता उससे कुएँ में कूद पड़ने के लिये कहें, तो वह कुएँ में कूद पड़ेगी। राजनीतिक स्वतंत्रता दिलाने के बदले में राजनीतिक नेता हिंदू-जनता से मनमाना मूल्य पा सकते हैं। उससे अपने हित-अहित विचार की आशा करना बेकार है। यह इँगलैंड की जनता थोड़े ही है, जो युद्ध के समय में चर्चिल को वोट दे और शांति के समय में ऐटली को। वैसे भी, जैसे किसानों और मजदूरों के सामने अर्थ-शास्त्र की एक समस्या रखकर उनकी वोटों से उसे तय करना प्रजा-तंत्र का मज़ाक़ उड़ाना होगा, वैसे ही निरक्षर भारतीय जनता से यह पूछना कि राष्ट्र-भाषा हिंदी हो, या उर्दू, या हिंदुस्तानी, एक लिपि हो या दोनो लिपि उपहास-मात्र है। राष्ट्र-भाषा की समस्या का हल जनता को नहीं, जननायकों को निकालना है। यह तो मुझे और आपको सोचना है कि यदि, जैसा कि निश्चित है, लीगी प्रांतों ने न वर्धा की हिंदुस्तानी और दोनो लिपि को स्वीकार किया, और न हिंदी उर्दू दोनो की शिक्षा प्रत्येक के लिये अनिवार्य की, और वहाँ, जैसा कि अब

भी है, केवल शुद्ध उर्दू और उर्दू-लिपि चली, तो कांग्रेस प्रांतों में हिंदुस्तानी अथवा हिंदी-उर्दू दोनो, और दोनो लिपि प्रत्येक पर लादने का क्या परिणाम होगा? गांधीजी और कांग्रेस की बंगाल, पंजाब, सिंध और बलूचिस्तान में कोई नहीं सुनेगा, और न इन प्रांतों पर कांग्रेस का कभी राज होगा। यह मार्के की बात है कि अग्रवालजी ने भी अपने लेख में केवल 'कांग्रेस-सरकारों' का ज़िक्र किया है, लीगी सरकारों को उन्होंने भी छोड़ दिया है, मानो लीगी प्रांत राष्ट्र में हों ही नहीं, और केवल कांग्रेसी भारत की राष्ट्र-भाषा का सवाल हो। कांग्रेस प्रांतों में भी सीमा-प्रांत के डॉ० खान साहब कहेंगे कि मैं तो जनता का नौकर हूँ, ज़रा पठानों से पूछ लूँ। पठानों का क्या उत्तर होगा, यह हम अच्छी तरह जानते हैं। राष्ट्र-भाषा का अर्थ है पूरे राष्ट्र की भाषा। यदि राष्ट्र का पाकिस्तानी भाग हिंदुस्तानी और दोनो लिपि, अथवा हिंदी उर्दू दोनो, को राष्ट्र-भाषा स्वीकार नहीं करता और अपने यहाँ उसकी शिक्षा की व्यवस्था नहीं करता, तो वह राष्ट्र-भाषा कैसे हुई? गांधीजी और कांग्रेस को अब समझ लेना चाहिए कि वे जिस राष्ट्र की कल्पना करते हैं, उसके न अकेले गांधीजी कर्णधार हैं और न अकेली कांग्रेस राष्ट्रीय महासभा। आज ऐसा नहीं हो सकता कि अग्रवालजी की 'राष्ट्रीय महासभा' कांग्रेस राष्ट्र-भाषा के विषय में अपना फ़ैसला दे

दे और वह राष्ट्र की, समूचे राष्ट्र की, भाषा हो जाय। आज श्रीजिन्ना और मुस्लिम लीग की अवहेलना नहीं की जा सकती। काका कालेलकर जो यह कहते फिरते हैं कि राष्ट्र में मुसलमान भी हैं, राष्ट्र-भाषा का स्वरूप निर्णय करने में उन्हें नहीं छोड़ा जा सकता, आदि, उन्हें यह भी समझ लेना चाहिए कि आज मुसलमानों की तरफ़ से बोलने का अधिकार उन्हें, गांधीजी या कांग्रेस को नहीं, श्रीजिन्ना और मुस्लिम लीग को है। जिस प्रकार राजनीति में मुस्लिम लीग के हस्ताक्षर के बिना कोई समझौता 'राष्ट्रीय समझौता' नहीं समझा जा सकता, उसी प्रकार कोई भी भाषा मुस्लिम लीग की मान्यता के बिना 'राष्ट्र-भाषा' नहीं हो सकती। कांग्रेस के जिस 'हिंदुस्तानी'-विषयक प्रस्ताव की दुहाई दी जाती है, उस पर श्रीजिन्ना के हस्ताक्षर भी हैं कि वैसे ही वह प्रस्ताव 'राष्ट्र-भाषा' का निर्णायक हो गया, और 'हिंदुस्तानी' 'राष्ट्र-भाषा' हो गई? कांग्रेस चाहे अपना काम अरबी-फ़ारसी में करे, परंतु वह 'राष्ट्र-भाषा' कैसे मानी जा सकती है? हम राष्ट्र-भाषा के किसी हल को नहीं मान सकते, जब तक मुस्लिम लीग भी उसे न माने, और लीगी प्रांत भी उस पर अमल न करें। यह भूलना नहीं चाहिए कि यदि केवल हिंदू भारत, हिंदू प्रांतों की बात होती, तो हिंदी भी नहीं, सरल संस्कृत राष्ट्र-भाषा होने के अधिक उपयुक्त होती। जिन प्रांतों और

जिन लोगों के कारण यह हिंदुस्तानी और 'दोनो लिपि' का बखेड़ा खड़ा किया जा रहा है, अगर वे ही इसके साथ नहीं, तो हमारी नज़रों में इसका मूल्य दो कौड़ी भी नहीं हो सकता। हम तो सम्मेलन के मार्ग को छोड़कर किसी दूसरे मार्ग पर दृष्टिपात भी नहीं कर सकते, जब तक हमें यह मालूम न हो कि जिन लोगों को सम्मेलन अपने मार्ग पर लाने में असमर्थ रहा है, वे इस नए मार्ग पर चलने को तैयार हैं। सब हिंदुओं को तो हिंदी और देवनागरी ही स्वीकार थीं और हैं। मुसलमानों को क्या स्वीकार है, यह मालूम करने के लिये हमें मुस्लिम प्रांतों पर नज़र डालना चाहिए। पंजाब, सीमा-प्रांत, बलूचिस्तान और सिंध उर्दू को अपनी कामन-भाषा, प्रांत-भाषा बनाएँगे, यह निश्चित है। उनका ऐसा करना ठीक भी है। एक कामन-भाषा और कामन-लिपि चाहिए ही, और उर्दू और फ़ारसी-लिपि ही उनके लिये सबसे उपयुक्त हैं। उन्हें कुत्ते ने थोड़े ही काटा है जो वे उर्दू की जगह रक्खें वर्धा की हिंदुस्तानी, और फ़ारसी-लिपि के साथ देवनागरी भी जोतें। आप हिंदी और हिंदू-प्रांतों में चाहें सो करें। रहा राष्ट्र-भाषा का सवाल, सो मुस्लिम प्रांत इसके लिये भी तैयार नहीं कि वे अपने स्कूलों में प्रत्येक के लिये राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी और दोन लिपि की शिक्षा अनिवार्य करें, अथवा हिंदी उर्दू दोनो की शिक्षा अनिवार्य करें। उन्हें हिंदी, हिंदी-संस्कृत-शब्द, देव-

नागरी और वर्धा की हिंदुस्तानी भी (जिसमें कुछ शब्द तो हिंदी-संस्कृत होंगे ही, और यदि श्रीअग्रवाल की चली, तो उसका हिंदी की ओर अधिक झुकाव होगा) असह्य हैं। वे तो अपने यहाँ से रही-सही हिंदी और देवनागरी भी निकालेंगे, हिंदुओं पर भी उर्दूस्तान लादेंगे। (काश्मीर, जहाँ कहने को हिंदू राजा है, में क्या किया जा रहा है, यह श्रीअग्रवाल से छिपा न होगा; बलूचिस्तान में भी ऐसा किया जा रहा है और सिंध, सीमा-प्रांत और पंजाब में भी लीगी नादिरशाही होते ही ऐसा किया जायगा।) प्रांतीय स्वायत्त शासन के इस युग में नए विधान के अनुसार गांधीजी, कांग्रेस या केंद्रीय सरकार को भी मुस्लिम प्रांतों में शिक्षा या भाषा के मामले में दखल देने का कोई अधिकार न होगा। ऐसी अवस्था में सारे राष्ट्र को एक राष्ट्र-भाषा के बंधन में बाँधने का इसके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं कि हिंदू-प्रांतों की राष्ट्र-भाषा भी उर्दू मान ली जाय, उनकी हिंदुस्तानी भी उर्दू कर दी जाय। यदि ऐसा न भी किया गया, और हिंदू-प्रांतों में, जो गांधीजी और कांग्रेस की मुट्ठी में है, हिंदुस्तानी और दोनो लिपि राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि मानी गई और उन्हीं की शिक्षा प्रत्येक के लिये अनिवार्य की गई, तो राष्ट्र-लिपि, सारे राष्ट्र की कामन-लिपि, तो फ़ारसी-लिपि अपने आप हो ही गई, हिंदू-प्रांतों की हिंदुस्तानी भी धीरे-धीरे अपने आप उर्दू हो जायगी।*

---

* देखिए पृष्ठ २४-२७।

कम-से-कम देवनागरी को राष्ट्र-लिपि मानने की तो अवश्य ही कोई आवश्यकता न रहेगी, और उसे थोड़े समय बाद अपने आप हटा दिया जायगा। (यदि रहने ही दिया गया, तो हिंदुस्थान के हिंदू यह सोचकर पुलकायमान तो न होंगे कि पाकिस्तान के हिंदू-मुसलमानों को देवनागरी नहीं सीखना पड़ती, तो न सही, हमें और हमारे पड़ोसी १० प्रतिशत महप्रांतीय मुसलमानों को तो सीखना पड़ती है!) चूँकि हम जानते हैं कि हिंदुस्तानी बन ही नहीं सकती, अंततोगत्वा हिंदी और उर्दू दोनो को राष्ट्र-भाषा मानना पड़ेगा। फिर यदि 'हिंदुस्थान' में हिंदी उर्दू दोनो प्रत्येक के लिये अनिवार्य की गईं, तो भी उर्दू ही डी फ़ैक्टो राष्ट्र-भाषा हुई, क्योंकि पाकिस्तान के हिंदू-मुसलमान तो केवल उर्दू जानते होंगे और हिंदुस्थान के हिंदू-मुसलमान हिंदी उर्दू दोनो*। फिर 'हिंदुस्थान' में हिंदी उर्दू दोनो की आवश्यकता ही क्या रहेगी? हिंदी को कुछ समय बाद अपने आप हटा दिया जायगा (न भी हटाया गया, तो 'हिंदुस्थान' के हिंदू 'राष्ट्र-भाषा हिंदी भी' का झुनझुना लेकर क्या करेंगे?), और चलिए, हो गई हिंदुस्तानीवालों की इच्छा पूरी—एक राष्ट्र भारत, एक राष्ट्र-भाषा उर्दू और एक राष्ट्र-लिपि

* हिंदी उर्दू दोनो राष्ट्र-भाषा मान ली जाने के बाद दोनो की शिक्षा प्रत्येक के लिये अनिवार्य क्यों न की जाय, इसका एक कारण यह भी है।

फ़ारसी। कितनी बढ़िया 'हिंदू-मुस्लिम' एकता होगी! स्वर्ग से देवता फूल बरसाएँ, तो आश्चर्य नहीं।

कोई यह न समझे कि हिंदू और कांग्रेस इतने मूर्ख नहीं हैं। एक हजार साल से ग़ुलामी का बोझा ढोते-ढोते हिंदू इतने ही मूर्ख हो गए हैं, और किसी भी क़ीमत पर हिंदू-मुस्लिम एकता की दीवानी कांग्रेस जो न करे सो थोड़ा है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह कपोल-कल्पना नहीं है—उसे हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं। लीगी सरकारों ने और लीगी प्रांतों ने हिंदुस्तानी और देवनागरी की बात नहीं पूछी (अभी हाल में सिंध की लीगी सरकार ने सिंध में 'हिंदुस्तानी' नामधारी उर्दू को अनिवार्य विषय क़रार दिया, परंतु लिपि रक्खी केवल एक, फ़ारसी लिपि। उर्दू का नाम 'हिंदुस्तानी' धरना तो संभव था, परंतु लिपि के मामले में धोखा कैसे दिया जाता? चलिए, सिंध हो गया उर्दुस्तान का एक अभिन्न अंग), परंतु कांग्रेसी सरकारों ने—पिछली और वर्तमान—हिंदी और हिंदू-प्रांतों में 'हिंदुस्तानी' और 'दोनो लिपि' थोपने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी है। बिहार, युक्त-प्रांत और मध्य-प्रांत की कांग्रेसी सरकारों ने 'हिंदुस्तानी' और 'दोनो लिपि' को अपने-अपने प्रांत की राजभाषा घोषित किया है, और प्रारंभिक शिक्षा का माध्यम बनाया है (बिहार की बुनियादी तालीम, मध्य-प्रांत की विद्या-मंदिर योजना, आदि)। और बहुत कुछ आगे आनेवाला है। सीमा-प्रांत भी एक कांग्रेसी प्रांत

था और है, परंतु वहाँ हिंदुस्तानी और देवनागरी का किसी ने नाम नहीं लिया और न कभी लिया जायगा। पंजाब में भी जहाँ अब की संयुक्त कांग्रेसी मंत्रिमंडल बना है (साल-छ महीने के लिये ही सही), सब शांत है। अभी थोड़े दिन हुए, काका कालेलकर आसाम गए, श्रीगोपीनाथ बरदलै से मिले और उन पर असम राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति (सम्मेलनवाली) को चौपट करके आसाम पर, जिसकी भाषा असमी में ७५ प्रतिशत तत्सम संस्कृत-शब्द हैं, हिंदुस्तानी और दोनो लिपि लादने के लिये जोर डाला। वह सीमा-प्रांत या पंजाब न गए, क्योंकि उन्हें मालूम है, वहाँ उनका कैसा स्वागत होगा। वे सिंध और बलूचिस्तान भी न गए, क्योंकि उन्हें मालूम है वहाँ गांधी का जादू काम न आएगा। गांधीजी का हिंदुस्तानी और दोनो लिपि-प्रचार भी महाराष्ट्र, दक्षिण, बिहार, मध्य-प्रांत और युक्त-प्रांत तक सीमित है और रहेगा। इन्हीं प्रांतों के हिंदुओं, हिंदीवालों (बक़ौल श्रीमन्नारायण) को ही तो उर्दू और उर्दू-लिपि सिखाई जा रही है (इसीलिये कहा जाता है कि व्यवहार में हिंदुस्तानी-प्रचार केवल उर्दू और उर्दू-लिपि-प्रचार है*)। डा० ताराचंद और पं०

---

* अभी हाल में (नवंबर, १९४५) बिड़ला-भवन में हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के सदस्यों को आदेश देते हुए गांधीजी ने स्पष्ट कहा कि वैसे तो सभा का उद्देश्य हिंदी और उर्दू दोनो ही का प्रचार करके

सुंदरलाल की स्वनाम-धन्य हिंदुस्तानी कल्चर सोसायटी प्रयागराज में ही तो 'हिंदुस्तानी बोली' और 'दोनो लिपि' का प्रचार कर रही है, किसी लाहौर में ता नहीं। सारांश

राष्ट्र-भाषा के रूप में हिंदुस्तानी की स्थापना करना है, परंतु जहाँ तक बंबई, गुजरात और महाराष्ट्र, आदि प्रांतों का संबंध है, नागरी-लिपि का ज्ञान वहाँ के लोगों को तो है ही, इसलिये उन प्रदेशों में उर्दू-लिपि के अनिवार्य प्रचार का कार्य ही सभा के कार्यकर्ताओं के सामने प्रमुख रूप से आता है। यह है हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के प्रोग्राम का नग्न चित्र, और यह है श्रीअग्रवाल के इस कथन का अर्थ कि "गांधीजी का ज़ोर हिंदी और उर्दू दोनो पर है, एक पर नहीं!" गांधीजी ने यह थोड़े ही कहा कि सिंध, बलूचिस्तान, सीमा-प्रांत और पंजाब के लोगों को उर्दू - लिपि का ज्ञान तो है ही, इसलिये सभा के सामने उन लोगों को केवल देवनागरी सिखाने का काम है। इन प्रांतों में गांधीजी और उनकी सभा को पूछता ही कौन है? वहाँ पर काम करने के लिये सभा के पास कार्यकर्ता हैं ही कौन से? चलिए, श्री० बी० जी० खेर स्वयं हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के सदस्य हैं और अब बंबई के प्रधान-मंत्री और शिक्षा-मंत्री भी हैं, इसलिये शीघ्र ही वे गांधीजी के आदेश का पूर्ण पालन करेंगे और गुजरात और महाराष्ट्र में सबके लिये उर्दू और उर्दू-लिपि की शिक्षा अनिवार्य कर देंगे। और सिंध, बलूचिस्तान, सीमा-प्रांत, पंजाब, आदि में? उन पर गांधीजी या कांग्रेस का क्या बस है। सब हिंदीवाले और हिंदू-प्रांत उर्दू और उर्दू-लिपि सीख लें (जिससे वे मुसलमान मित्रों से 'ख़तोकिताबत' करने योग्य हो जायँ), उर्दूवाले उर्दू और उर्दू-लिपि जानते ही हैं, बस बन गई एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि!

यह कि इसकी पर्वाह किए बिना कि राष्ट्र-भाषा का नया गांधीय हल-हिंदुस्तानी—(अथवा "फिलहाल हिंदी+उर्दू') और 'दोनो लिपि'—राष्ट्र के सब दलों को स्वीकार है या नहीं अथवा कभी होगा या नहीं, सरकारी और ग़ैर-सरकारी एजेंसियों द्वारा गांधीजी, कांग्रेस और हिंदुस्तानीवाले हिंदी और हिंदू-प्रांतों में हिंदुओं पर हिंदुस्तानी, हिंदी उर्दू दोनो और दोनो लिपि लाद रहे हैं ❀। श्रीअग्रवालजी

❀मज़े की बात यह है कि ग़ैर-सरकारी प्रकरणों में जैसे गांधीजी के हिंदुस्तानी-प्रचार में तो मुसलमान स्वतंत्र हैं ही, जहाँ सरकारी तौर से हिंदुस्तानी लादी जाती है, वहाँ भी मुसलमान स्वतंत्र हैं।

लेखक को मालूम हुआ है कि बिहार में, हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा, वर्धा के सभापति बा०राजेंद्रप्रसाद के बिहार में, कांग्रेसी मंत्रि-मंडल ने बिहारी मुसलमानों को छूट दे दी कि यदि वे चाहें तो हिंदुस्तानी के बजाय उर्दू पढ़ सकते हैं (राजेंद्रप्रसाद-हक़ समझौता), परंतु हिंदुओं को हिंदुस्तानी के बजाय हिंदी पढ़ने की छूट नहीं दी। यह है कांग्रेस के हिंदुस्तानीवाद का पोलखाता ! वास्तव में हिंदी कांग्रेस की आँख का काँटा है। कांग्रेस चाहती है कि हिंदी न रहे, उसकी हिंदुस्तानी हो जाय, जिससे 'हिंदू-मुस्लिम एकता' स्थापित हो सके। इसलिये केवल हिंदुओं की भाषा और संस्कृति की गर्दन रेती जाती है। कांग्रेस को बड़ा दुःख है कि हिंदी क्यों जीवित रही, वह उर्दू क्यों न हो गई, जिससे एकता में बाधा न पड़ती। चूँकि उर्दू हिंदी हो नहीं सकती, इसलिये हिंदी को उर्दू कर देने के सिवा एकता करने का दूसरा उपाय ही क्या है ! शायद 'एकता' के इन दीवानों को इस बात का भी मलाल है कि तीस करोड़ हिंदू क्यों बच रहे,

सफ़ाई देते ही रह जायँगे कि उर्दू वाले हिंदी न सीखें या कम सीखें, यह दूसरी बात है, गांधीजी किसी पर जोर-जबर्दस्ती नहीं करते, आदि, हिंदुस्तानीवादी, गांधीवादी दिल पिघलाव-योग का अभ्यास ही करते रह जायँगे और डी फ़ैक्टो राष्ट्र-भाषा हो जायगी उर्दू और डी फ़ैक्टो राष्ट्र-लिपि हो जायगी फ़ारसी लिपि। यह हमें गांधीजी ने ही सिखाया है कि अपनी बुद्धि के अनुसार चलो। गांधीजी ने अपनी हिमालय भूलों को स्वयं स्वीकार किया है। यदि आज उनके अनुयायी उनके पीछे अंध-भक्ति के कारण चलते हैं, तो वे गांधीजी के साथ अन्याय करते हैं, उन्हें धोखा देते हैं। कितने हिंदुस्तानीवाले (जिनमें दक्षिण-भारत हिं०-प्रचार-सभा, जो २५ वर्ष हिंदी और देवनागरी का प्रचार करने के बाद कल से हिंदुस्तानी और दोनो लिपि का प्रचार करने लगी है, भी है) ऐसे हैं, जो दिल पर हाथ रखकर कह सकते हैं कि हमें हिंदुस्तानीवाद में आंतरिक विश्वास है, उसके मूलभूत सिद्धांतों में विश्वास है, हमारी बुद्धि और आत्मा इसे क़बूल करती है, यह सफल होगा,

---

सब-के-सब मुसलमान क्यों न हो गए, जिससे एकता भंग तो न होती। चूँकि मुसलमान हिंदू हो नहीं सकते, आश्चर्य नहीं, यदि एकता स्थापित करने के लिये हिंदुओं से मुसलमान हो जाने के लिये कहा जाय और प्रत्येक कांग्रेसी प्रांत में एक क़ुरान-प्रचार-सभा खोल दी जाय!

और हम हिंदुस्तानी के गिरोह में गांधीजी की अंध-भक्ति के कारण नहीं, हिंदुस्तानीवाद में पुरानी या नई श्रद्धा होने के कारण आ मिले हैं? यदि अब तक न पूछा हो, तो श्रीअग्रवाल भी अपने दिल से पूछ देखें।

हिंदुस्तानीवाले अपने दिल से पूछें अथवा न पूछें (लक्षण यही हैं कि नहीं पूछेंगे), हमारा यह कर्तव्य है कि हम गांधीजी के कानों तक पहुँचा दें, बापू, आपका यह हिंदुस्तानी-आंदोलन ठीक नहीं, आपकी और एक दर्जन और आदमियों की ज़िद अच्छी नहीं, आपके हिंदुस्तानी-आंदोलन के मूल सिद्धांत ग़लत हैं, वे किसी को मान्य नहीं, यह कभी सफल नहीं हो सकता, उससे किसी का लाभ नहीं हो रहा है, और न होनेवाला है, बस, केवल हिंदी की घोर हानि हो रही है; आप राष्ट्र के सबसे बड़े नेता हैं, जहाँ आपको जनमत बनाने का अधिकार है, वहाँ आपको परिस्थिति देखते हुए जनमत के साथ चलना भी उचित है। यदि बापू नहीं सुनेंगे, तो संभव है, हमें उनके विरुद्ध उन्हीं के दिए हुए हथियार सत्याग्रह का प्रयोग करना पड़े। हम गांधी-भक्ति के भावावेश में आकर हिंदी को मिटते नहीं देख सकते। हमारा हिंदी में सर्वस्व है। हम किसी के साथ ज्यादती करना नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि हिंदी उर्दू दोनो को राष्ट्र-भाषा मान लिया जाय (अर्थात् केंद्र दोनो को समान स्थान दे), प्रत्येक को स्वतंत्रता दे दी जाय कि चाहे वह हिंदी सीखे,

चाहे उर्दू, और यदि मुस्लिम प्रांत हिंदी चाहनेवालों को हिंदी सीखने की सुविधा प्रदान न करें, तो हिंदू-प्रांतों में उर्दू चाहनेवालों को उर्दू सीखने की सुविधा न दी जाय। आज की स्थिति में यही एकमात्र हल है। हृदय से हम राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के मामले में ज्ञान और विज्ञान से काम लेना चाहते हैं। परंतु यदि यह संभव नहीं, वातावरण इसके अनुकूल नहीं, तो हम सौदा करने, नक़ली और अस्थायी एकता स्थापित करने और घूस देने या अपनी भाषा और संस्कृति की बलि देने के बजाय हिंदी और उर्दू दोनों को राष्ट्र-भाषा स्वीकार करना श्रेयस्कर समझते हैं।

II

मुस्लिम प्रांतों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसको कैबिनेट डेलीगेशन की योजना से और दृढ़ आधार मिल गया है। जो बात अब तक मुस्लिम प्रांतों तक सीमित थी, वह अब और प्रत्यक्ष हो गई है। यह निश्चित है कि प्रांतों के ग्रूप बनेंगे, और वही ग्रूप बनेंगे, जिन्हें कैबिनेट डेलीगेशन ने प्रस्तावित किया है—ऐसा चाहे कांग्रेस के इच्छानुसार प्रांत स्वेच्छा से करें और चाहे कैबिनेट डेलीगेशन के कथनानुसार ऐसा करना प्रांतों के लिये आरंभ में अनिवार्य हो। (कम-से-कम ग्रूप 'बी' को बनने से कोई न रोक सकेगा।) यह भी निश्चित है कि पाकिस्तानी ग्रूप (ग्रूप 'बी') अपनी ग्रूप-भाषा उर्दू बनाएगा, और

ग्रूप के प्रत्येक निवासी के लिये उर्दू और उर्दू-लिपि की शिक्षा अनिवार्य करेगा। फिर राष्ट्र को एक राष्ट्र-भाषा के बंधन में बाँधने का इसके सिवा कोई दूसरा उपाय न होगा कि हिंदुस्थान-ग्रूप (ग्रूप 'ए') की ग्रूप-भाषा भी उर्दू बना दी जाय। अगर हिंदुस्थान-ग्रूप, जो गांधीजी और कांग्रेस की जेब में है, ने वर्धा की हिंदुस्तानी और दोनो लिपि को ही ग्रूप-भाषा बनाया, और उनका पढ़ना ग्रूप के प्रत्येक निवासी के लिये अनिवार्य किया, अथवा हिंदी उर्दू दोनो को ही ग्रूप-भाषा माना और दोनो का पढ़ना प्रत्येक के लिये अनिवार्य किया, तो उसका भी वही परिणाम होगा (ऊपर देखिए)। पाकिस्तानी ग्रूप वर्धा की हिंदुस्तानी और 'दोनो लिपि' की बात तो नहीं पूछेगा ही (और न उनका सीखना ग्रूप-वासियों के लिये अनिवार्य क़रेगा), डर इस बात का है कि वह हिंदुओं को हिंदी लिखने-पढ़ने की सुविधा भी नहीं देगा। मुस्लिम प्रांतों और देशी राज्यों में जो हो रहा है, वह इसी की सूचना देता है। और मुस्लिम पत्रों ने यह अभी से कहना शुरू कर दिया है कि पाकिस्तान एक सार्वभौम स्टेट न हुआ तो न सही, कम-से-कम अब उसे इस्लामी संस्कृति के साँचे में ढालने से कौन रोक सकेगा। कोई यह न समझे कि इस ग्रूप-बाज़ी के बाद कांग्रेस हिंदुस्थान-ग्रूप की भाषा 'हिंदुस्तानी' और दोनो लिपि, अथवा हिंदी उर्दू दोनो बनाने की मूर्खता न करेगी। जो कांग्रेस मुस्लिम प्रांतों

में 'हिंदुस्तानी' और 'दोनो लिपि' अथवा हिंदी उर्दू दोनो की बिलकुल पूछ न होने पर भी युक्त-प्रांत, बिहार और मध्य-प्रांत ऐसे हिंदीभाषी प्रांतों में, जहाँ मुट्ठी-भर, और वे भी हिंदी-भाषी, मुसलमान रहते हैं, हिंदी को निकालकर हिंदुस्तानी और दोनो लिपि अथवा हिंदी उर्दू दोनो को सबके सिर पर लादने, और राजभाषा, शिक्षा के माध्यम, आदि, के पद पर प्रतिष्ठित करने से बाज़ न आई, वह पाकिस्तानी ग्रूप के अपनी भाषा उर्दू बनाने पर भी (पाकिस्तानी ग्रूप में वे ही मुस्लिम प्रांत तो हैं—अंतर क्या हुआ है, सिवा 'ग्रूप' की उपाधि मिल जाने के ?) हिंदुस्थान-ग्रूप की भाषा केवल १० प्रतिशत (१८७ में २०) मुसलमानों के कारण (जिनमें से अधिकांश हिंदी और अन्य संस्कृतनिष्ठ भाषाएँ बोलते और समझते हैं) हिंदी के स्थान में हिंदुस्तानी और दोनो लिपि अथवा हिंदी उर्दू दोनो भी बना सकती है। बस, केवल 'महात्मा' (और अब 'मौलाना') की उपाधि धारण करनेवाले गांधीजी, 'तंग-ख़याली' से दूर रहनेवाले और अंतरराष्ट्रीयता में विचरने-वाले पं० नेहरू, और मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, श्री-आसफ़अली, डॉ० सैयद महमूद और श्रीरफ़ीअहमद क़िदवई-सरीखे कांग्रेसी और मौलाना मदनी-जैसे 'नेशनलिस्ट' मुसलमान सलामत रहें !

क्या हम श्रीअग्रवाल से पूछ सकते हैं, महाराज, कहाँ है

वह राष्ट्र, जिसकी राष्ट्र-भाषा की आपने, गांधीजी और कांग्रेस ने कल्पना की थी? कहाँ है आपकी 'राष्ट्रीय महासभा,' कांग्रेस की सार्वदेशिक सत्ता, जिस पर राष्ट्र-भाषा का प्रश्न छोड़ देने के लिये आप हमसे कहते हैं? मुसलमानों ने अपना 'पाउंड ऑफ़ फ्लेश' ले लिया, अब आप क्यों हिंदू-प्रांतों में हिंदुओं के रुपए से हिंदुओं को उर्दू और उर्दू-लिपि पढ़ाते हैं, हिंदू और हिंदी-प्रांतों पर विदेशी शब्दों से भरी कृत्रिम हिंदुस्तानी और दोनो लिपि या हिंदी उर्दू दोनो लादकर हिंदुस्थान की भाषा-समस्या और जटिल बनाते हैं, हमारा पैसा बरबाद करते हैं, हमारे बालकों का समय और शक्ति बरबाद करते हैं, हिंदुओं में फूट डालते हैं, सम्मेलन के करे-कराए पर पानी फेरते हैं और संघर्ष उत्पन्न करते हैं? क्या हम बाबू राजेंद्रप्रसाद से पूछ सकते हैं, कहाँ हैं आपके वे 'उर्दू-भाषी' प्रांत, जिनको राष्ट्र-भाषा में हिलगाकर आप साथ ले चलना चाहते हैं? और कहाँ है आपकी वह 'उर्दू-भाषी' जनता, जिसकी सुविधा का ख़याल (अथवा जिसको घूस देने का ख़याल) आप राष्ट्र-भाषा के निर्माण में रखना चाहते हैं? और क्या है उस भाषा का असली नाम, जिसे अब 'मद्रास के तेलगू भाई' भी समझें और 'फ्रांटियर के भाई' भी समझ सकें?

जिन हिंदुस्तानीवालों और कांग्रेसवालों ने अपनी बुद्धि को तिलांजलि नहीं दे दी है, जिन्होंने गांधीजी का अंध-

अनुकरण करना ही अपना धर्म नहीं समझ लिया है, उनसे हम कहेंगे, न्याय और तर्क का तक़ाज़ा यह है कि पहले आप अपनी राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपियाँ पाकिस्तानी ग्रूप से मनवाइए और फिर हमसे कहिए। यदि ऐसा नहीं कर सकते, तो न्याय और तर्क का तक़ाज़ा यह है कि हिंदुस्थान-ग्रूप की भाषा हिंदी और केवल देवनागरी होना चाहिए, और ग्रूप के प्रत्येक निवासी के लिये हिंदी और देवनागरी सीखना अनिवार्य होना चाहिए। अब हम हिंदी उर्दू दोनो को भी हिंदुस्थान-ग्रूप की राष्ट्र-भाषा नहीं मान सकते (अर्थात् ग्रूप-वासियों को स्वतंत्रता नहीं दे सकते कि जो चाहे हिंदी सीखे और जो चाहे उर्दू सीखे), क्योंकि यह तो उर्दू को ही अंतर्ग्रूप भाषा बना देने के समान होगा, और इससे हमारे ग्रूप की भाषा-समस्या पाकिस्तानी ग्रूप की भाषा-समस्या की अपेक्षा कठिन हो जायगी, और हमारी उन्नति में बाधक होगी। इतना ही नहीं, यदि पाकिस्तानी ग्रूप ने हिंदुओं को हिंदी पढ़ने की सुविधा नहीं दी, तो हिंदुस्थान-ग्रूप में मुसलमानों को उर्दू पढ़ने की सुविधा भी नहीं दी जायगी। मुसलमान आक़ाओं की हम बहुत ख़ुशामद-चिरौरी कर चुके। हाँ, केंद्रीय सरकार को हिंदी और उर्दू दोनो को राष्ट्र-भाषा मानना चाहिए, और दोनो को समान स्थान देना चाहिए। यह कोई नई बात न होगी। कैनाडा में पूर्वी कैनाडा, जहाँ फ्रेंचभाषी जनता का बहुमत है, की राष्ट्र-भाषा फ्रेंच है,

और फ्रेंच-ज़ोन की धारा-सभा और सरकार की सारी कार्रवाई फ्रेंच में होती है। इसी प्रकार पश्चिमी कैनाडा, जहाँ अँगरेज़ी भाषी जनता का बहुमत है, की राष्ट्र-भाषा अँगरेज़ी है और अँगरेज़ी-ज़ोन की धारा-सभा और सरकार की सारी कार्रवाई अँगरेज़ी में होती है। कैनाडा की केंद्रीय सरकार अँगरेज़ी और फ्रेंच दोनो को राष्ट्र-भाषा मानती है, और दोनो को समान स्थान देती है। इसी प्रकार स्वीटज़रलैंड में तीन राष्ट्र-भाषाएँ हैं, और तीनो के अपने अलग-अलग ज़ोन हैं। भारत में ग्रूप 'ए' की भाषा हिंदी होगी, ग्रूप 'बी' की उर्दू और केंद्र की दोनो। यह भारत की राष्ट्र-भाषा-समस्या का आदर्श नहीं, तो यथेष्ट संतोषजनक और व्यावहारिक हल होगा। हिंदी उर्दू तो फिर एक दूसरे के दो सर्वथा भिन्न भाषाओं की अपेक्षा अधिक निकट हैं। ग्रूप 'सी' के बंगाल-प्रांत की प्रांत-भाषा होगी बँगला और आसाम की असमी। ये दोनो प्रांत बँगला को ग्रूप-भाषा बना सकते हैं (और उस अवस्था में केंद्र को बँगला को भी राष्ट्र-भाषा मानना आवश्यक हो सकता है), यद्यपि ज़्यादा अच्छा यह होगा कि ये प्रांत हिंदी और उर्दू को राष्ट्र-भाषा-रूप में स्वीकार कर लें और हिंदी या उर्दू बतौर राष्ट्र-भाषा के सीखना प्रत्येक की इच्छा पर छोड़ दें।

ऊपर का हल तो ठीक है, परंतु गांधीजी के हिंदुस्तानी-आंदोलन की आँधी चलते क्या कांग्रेस न्याय और तर्क

से काम ले सकेगी ? अधिक आशा नहीं होती। हिंदीवाले याद रक्खें कि उर्दू जहाँ है अथवा जहाँ उसे होना चाहिए, वहाँ तो उर्दू रहेगी ही और होगी ही, बस जहाँ हिंदी को होना चाहिए, वहाँ ही कांग्रेस हिंदुस्तानी और दोनो लिपि धर सकती है। उर्दू पर कांग्रेस का कोई बस नहीं, केवल हिंदी कांग्रेस की मुट्ठी में है, उसे वह चाहे रक्खे और चाहे मिटा दे। विधान-निर्मात्री सभा के लिये प्रतिनिधि चुनते समय हिंदीवाले इस तथ्य को भूल न जायँ। उनकी वोटें हिंदी के भाग्य का निर्णय करेंगी।